इन्दु

प्रसाद हीरक जयन्ती विशेषांक



वर्ष १ भाग १ संवत् २०२०

संरक्षक : श्री सुमित्रानन्दन पंत

प्रधान सम्पादक : रायकृष्ण दास

'इन्दु'

वर्ष १ भाग १

वार्षिक
१०·००

एक प्रति
२·५०

'प्रसाद'
हीरक जयन्ती

प्रकाशक :
प्रसाद मन्दिर
गोवर्धन सराय
वाराणसी

व्यवस्थापक :
अरुण शंकर प्रसाद

मुद्रक :
बजरंग शरण तिवारी
दुर्गा प्रेस, शिवाजी मार्ग
लखनऊ

किरण १ कला १ से पुनर्मुद्रण

161



जयशंकर प्रसाद

सन १९१५



प्रसाद हीरक जयन्ती विशेषांक

माघ शुक्ल १० संवत् २०२०

वर्ष १ भाग १

किरण १ कला १ से संवत् १९६६ [illegible]

पुनर्मुद्रण

'इन्दु'

के

आगामी अंक

वैशाख ० श्रावण ० कार्तिक ० माघ

की शुक्ल द्वितीया को प्रतिवर्ष प्रकाशित हुआ करेंगे।

संपादन संबन्धी पत्र व्यवहार

सम्पादक 'इन्दु'

तथा

व्यवस्था सम्बन्धी पत्र व्यवहार

व्यवस्थापक 'इन्दु'

०

'प्रसाद मन्दिर'

गोवर्धन सराय

वाराणसी

से करें।

०

समीक्षा के लिये पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है।

०

इन्दु — त्रैमासिक संकलन

अनुक्रम

(ॐ इन्दु शेखरायनमः)

'इन्दु'

मासिक पत्रिका

सज्जन चित्त चकोरन को, हुलसावन भावनपूरो अनिन्दु है।
मोहन काव्य के प्रेमिन के हित सांच सुधारसको वलिविन्दु है॥
ज्ञान प्रकाश प्रसारि हिये बिच, ऐसो जो मूरखता तमभिन्दु है।
काव्य महोदधिते प्रकट्यो, रस रीति कला युत पूरण "इन्दु!" है॥

कला १ } श्रावण शुक्ल २ सम्बत् १९६६ { किरण १

प्रस्तावना

यह सर्व सम्मति है कि जातीय उन्नति के लिए साहित्य के उन्नति की आवश्यकता होती है। और साहित्य ही के देखने से जातीय उन्नति की सीमा परिलक्षित या प्रमाणित की जा सकती है। जिस जाति ने जितना उन्नति किया है उसका उतना ऊंचा साहित्य देखने में आता है। जिस जाति का साहित्य नहीं है, उसका मानव जाति से बहुत थोड़ा सम्बन्ध होता है। साहित्य साधारण मानव समूह की एक साधारण सम्पत्ति है परन्तु साहित्य साधारण को सहज ही में प्राप्त होने वाली सम्पदा नहीं है। पुण्य द्वारा प्राप्त प्रतिभा में साहित्य की उत्पत्ति है, और उसी प्रतिभा के अनुशीलन करने से साहित्य की श्री वृद्धि होती है, और उसी प्रतिभा

के क्रम विकास से साहित्य का क्रमशः परिपाक होता है। जब प्रतिभा का पूर्ण विकाश होगा, तब मानव साहित्य भी अपने चरम उन्नति के उच्चतम पवित्र सोपान पर पदार्पण करेगा।

उदार तथा पवित्र साहित्य महान होता है, वह मानवको विस्त्रित तथा अनन्त उन्नति के पथपर ले जाता है। साहित्य अनन्त उन्नति का सहाय होता है, महत्व हीं उसका उपकरण क्षेत्र तथा आदर्श स्वरूप होता है, साहित्य में जहां क्षुद्रता देखी जाती है वह क्षुद्रता वा संकीर्णता नहीं है, वहां पर साहित्य! क्षुद्रता की तुलना करके महत्व की महिमा को परिस्फुट करता है। और इसी के द्वारा साहित्य महत्व का प्रवर्त्तक तथा क्षुद्रता का निवर्त्तक बनकर, अपना महत्व और मनुष्य के अनन्त उन्नति का पथ, सरल उपाय से दिखा देता है।

इसी उन्नत साहित्य के विमल कान्ति से मानव हृदय प्रकाशित होता है, और इसी प्रकाश से मनुष्य की प्रतिभा धीरे-धीरे विकाशित हो जाती है, इसी प्रकार से इसी साहित्य के प्रभाव से मनुष्य क्रमशः पूर्ण उन्नति को पाता है।

अतएव जो कुछ मनुष्य को प्रार्थनीय, उन्नति का सहाय, धर्म्म साधक तथा उपकारी है। सो केवल साहित्य है।

साहित्य का कोई लक्ष्य विशेष नहीं होता है और उसके लिये कोई विधि का निबंधन नहीं है, क्योंकि साहित्य! स्वतन्त्र प्रकृति सर्वतो गामिनी प्रतिभा के प्रकाश का परिणाम है, वह किसी के परतन्त्रता को सहन नहीं कर सकता, संसार में जो कुछ सत्य और सुन्दर है वही साहित्य का विषय है। साहित्य केवल सत्य और सौंदर्य की चर्चा करके सत्य को प्रतिष्ठित, और सौंदर्य को पूर्ण रूप से विकाशित करता है, आनन्दमग्न हृदय के अनुशीलन में और स्वतन्त्र आलोचना में उसकी सत्ता देखी जाती है। सर्व साधारण का अक्षय, क्रमशः उन्नति और सार्वजनिक प्रेम साहित्य का अमृतमय महानफल है। और यह सर्वव्यापी प्रेम ही मनुष्य का धर्म्म और मनुष्यत्व का आदर्श, अथवा लक्षण होता है, और यही क्रमशः उन्नति और विश्व प्रेम! मनुष्य को देवता बना देता है।

बहुत से प्रतिभाशाली मनुष्य बाल्मीकि! कालीदास! तथा शेक्सपियर इत्यादि लोगों ने इस साहित्य को, मनोनीत कल्पना रूपी सुमन से पूजन करके, आज दिन तक स्वयं भी देववत पूजनीय हो गये हैं।

अतएव साहित्य ही प्रतिभाशील मनुष्यों का प्रधान आराध्य देवता है। उन्नति के पथ में अग्रसर होने के पहले यह देवता अवश्य पूजनीय है।

अतएव इस भाषा को, साहित्य द्वारा पूजन करना, समस्त उदार तथा महान व्यक्तियों को आवश्यक है। अतएव इसकी उत्कृष्टि सेवा करना शुभावह तथा मंगलप्रद है।

जगदीश्वर! से सदैव यही प्रार्थना है कि इस भाषा के सेवकों की उन्नति के साथ, इसका साहित्य भी राकाशशी के समान अपना मधुर प्रकाश फैलावे।*



शारदाष्टक

(१)

बन्दे मुकुलित नवल नील अरबिन्द नयनि वर।
वरदे नवशशिलाञ्छित अनुपममुखे सुधाधर ॥
धरति कमलकर वीणा वाजत जगदानन्दे।
आनन्दामृत वरषति जय जय शारद बन्दे ॥

(२)

नन्दन वालवकुलतरस्थित जय रसकी मूरति।
उघटत ताल रसाल वीण बाजत रस पूरति ॥
शुभ्रकमलदल माल विभूषित स्वेत बरणिजय।
जयति देवि शारदे लसत आभूषण मणिमय ॥

(३)

एक हस्त अति शुभ्र कमण्डलु रजत विनिर्मित।
विद्यारस को पात्र किधौं अमृत सों पूरित ॥
पर्ध सुधाकर लाजत शुभ्र सरोज एककर।
एक हस्त में वीणा ताहि बजावत इककर ॥

(४)

वीण सूत्र पर भासत इमि नख कला "कलाधर"।
सुधा भरत जिमि सुधाधार में बाल सुधाकर ॥
ताल लेत शिर कम्पितझरत प्रस्वेद बुन्द वर।
सुधा पूरि बरषत मानहुँ सु अमीधाराधर ॥

(५)

कुन्दकली कर मुकुट मंजु शिर ऊपर राजत।
तामे मुक्तालर वर भाल अमल पर छाजत॥
शैलराज हिमवान गुहाते निकरि मनो वर।
स्फटिक शिलापर सुधाधार बहि चली मनोहर॥

(६)

नव चन्द्रिका समान दुकूल लसत अति सुन्दर।
हीरक मणिमय मुक्ता कंकण राजत मधि कर॥
मन्द हास प्रस्फुटित ललित लीला सह अनुपम।
मुख श्री तव देवै प्रकाश शारद सुहियेमम॥

(७)

चरणकमल नख ललितलालिमा हेमअभूषण।
नीलनैन नवशशि मुखकान्ति परै मराल तन।
तापर बैठी राजति यों शारदा देवि शुचि।
इन्द्रधनुष पर तड़िता है, आसीन मनहुँ रुचि॥

(८)

ब्रह्मलोक वासिनि, जय कविकुलकंठिनिवासिनि।
नन्दन बीच बिहारिणि, जय मराल वर वाहिनि॥
ईश भक्ति सुखदायिनि, ध्यावत नित प्रति नारद।
विद्यामृत वरषाकारिणि, बन्दे जय शारद॥

जयशंकर प्रसाद

o:⁐:o:⁐:o

प्रार्थना पत्र

जगदीश्वर से—

इन्दु ! की सर्व शक्तिमान जगदीश्वर से आन्तरिक यही प्रार्थना है कि पूर्णकला सहित मुझे दिनोदिन प्रकाशयुत करें।

गुणज्ञ पाठकों से—

इन्दु ! की यही प्रार्थना है कि हमारे उद्देश्य को प्रथम आप पूर्ण रूप से समझलें, पुनः स्वीकार हो तो मनिआर्डर द्वारा अग्रिम वार्षिक मूल्य १) रु० भेज दें, अथवा मुझे आगामी अंक बी० पी० भेजने के निमित्त पत्र द्वारा सूचित कर दें।

नादिहन्दों से—

इन्दु ! की यही प्रार्थना है, कि वे मुझे देखते ही लौटा दें।

सुलेखकों से—

इन्दु ! की आन्तरिक प्रार्थना है कि वे महाशय उत्तमोत्तम विषय युक्त लेख एवं कविताओं द्वारा, मुझे सदैव सुशोभित किया करें। अन्त में सर्व—

देशहितैषी सज्जनो से——

इन्दु ! की आन्तरिक यही प्रार्थना है कि आप सर्व महाशय मुझ पर सदैव प्रेम मय पूर्ण कृपा दृष्टि रक्खे।

प्रार्थनीय "इन्दु"

—*—

उद्योग

"उद्योगिनं पुरुष सिंह मुपैति लक्ष्मी
दैवेनदेय मितिका: पुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरुपौरुष मात्मशक्या
यत्नेकृतेयदिनसिद्धयतिकोऽत्रिदोश:।।"

हा! हमको आज दिन भी यह देख बड़ा ही खेद होता है, कि हमारे प्रिय स्वदेशवासियों में से वह आलस्य ! जो कि इस रत्नमय भारत ! को आरत से भी आरत बना रहा है, अभी तक नहीं गया। और वही भारत के मनुष्य ! जो किसी समय अपने निजके पुरुषार्थ, तथा वीरता और विद्वत्ता पर सर्ब कार्य सम्पादन करते थे, उसी भारत! के मनुष्य ! इसी दुष्ट आलस्य ! के पीछे आज दिन कायरों की नाई सर्व कार्य को दूसरे के सहायता के भरोसे, निज पुरुषार्थ, वीरता, तथा बुद्धि को अपने आप ही नष्ट कर रहे हैं।

परन्तु "सहायता" भी दो प्रकार की होती है, प्रथम वह जो हमें दूसरे से पहुंचती है, और द्वितीय वह जो हम स्वयं अपनी ओर से करैं। इसमें प्रथम वाले सहायते से हमें सिवाय हानि के कुछ भी लाभ नहीं पहुँचता, केवल इतना ही होता है, कि हम परिश्रम करने से बच जाते हैं, और दूसरे के परिश्रम से बिना हाथ पैर हिलाए अपना मनोर्थ पूर्ण पाकर बहुत ही प्रसन्न होते हैं। और वस्तुत: यही कारण है कि जिससे आज दिन भारत ! की यह दशा हो रही है। परन्तु यदि वास्तव में देखा जाय तो यह प्रसन्नता उससे बिल्कुल ही कम होती है, जो कि हमें निज परिश्रम से प्राप्त होती है।

इसका क्या कारण है ? कि हम लोग उस वस्तु को, जो हमें बिना परिश्रम मिल जाय, अच्छा समझने लगते हैं ? उसका यही कारण है कि जिस वस्तु की हमने इच्छा की, वह हमें आलस्य में सुख से बिना परिश्रम किये पड़े रहने पर भी दूसरे के सहायता से प्राप्त हो गई।

और उस वस्तु के निमित्त जो हमें विशेष परिश्रम तथा कठिनाई और निज की सहायता एवं बुद्धिमता से प्राप्त होती है, कितना दु:ख कर बोध होती है, परन्तु यह लोग नहीं समझते कि हमारी बल, बुद्धि, तथा आरोग्यता, इत्यादि सभी वस्तु के निमित्त जितना हमारा निजका परिश्रम लाभ दायक होता है, उतना दूसरे का परिश्रम नहीं लाभ पहुँचा सक्ता। माना कि यदि हम परिश्रम न करैं, और आलस्य बस दूसरे ही के सहायता पर निज बुद्धि तथा परिश्रम को अपने से पृथक रख दें, तो उसका क्या परिणाम होगा ? क्या हमें कार्य सम्पादन (कामयाबी) का प्रशंसापत्र (सार्टिफिकट) मिल जायगा ? क्या हमारा नाम बड़े २ विद्वानों के पंक्तियों में उसी प्रकार लिया जायगा ? जैसे कि उनका ? नहीं ! कदापि नहीं ! वह पद बिना निज के परिश्रम किये कदापि नहीं प्राप्त हो सक्ता। अतएव निजका पुरुषार्थ ही सर्वोपरि है।

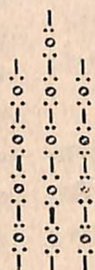
यह माना कि प्रथम परिश्रम करते हुए चित्त व्यग्र तथा उच्चाट हो जाता है, और कार्य से नितान्त ही चित्त उकता जाता है, और साथ ही नाना प्रकार की आपत्तियाँ झेलनी पड़ती है; परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि यदि हम धैर्य्य-पूर्वक उन सब आपत्तियों को सहन करने के निमित्त सदैव कटिबद्ध हों, और साथ ही कुछ २ सदैव परिश्रम करते जायँ तो कुछ ही दिनों में बहुत भारी कार्य करने योग्य हो जायँगे। और यदि कोई कार्य करना हो, पर उसमें चित्त न लगाएँगे, और स्वयं परिश्रम न कर दूसरे के सहायता के भरोसे रहैंगे तो वह कार्य कदापि नहीं पूर्ण होगा।

अतएव सब मनुष्यों को चाहिये कि चाणक्य नीति के आदेशाऽनुसार।

"कः कालः कानि मित्राणि
कोदेशः कौव्यय। गमौ।
कस्याहं काचमे शक्ति
रिति चिन्त्य मुहुर्मुहुः॥"

यथा-किसकाल में क्या करना चाहिये, मित्र कौन है, यह सोचना चाहिये इसी भाँति देश कौन है, इस पर ध्यान देना चाहिये, लाभ व्यय क्या है यह भी जानना चाहिये, इसी भाँति किसका मैं हूँ यह देखना चाहिये इसी प्रकार से मुझ में क्या शक्ति है, यह बारम्बार बिचारना उचित है, और उसी भाँति समयानुसार सर्व कार्य करना प्रत्येक मनुष्यों का कर्तव्य है।

अतएव भारत! आज दिन इसी से नष्ट प्राय हो रहा है कि कोई कार्य करना हुआ प्रथम तो बड़े हर्ष और उत्साह सहित बिना बिचारे कर लिया परन्तु थोड़ा सा भी विघ्न हुआ कि उसी समय छोड़ दिया। परन्तु नहीं अब इस निन्दनीय प्रथाको एवं आलस्य! को नितान्त ही अपने से पृथक करना चाहिये और अब से जो कार्य करना हो, एकाग्र चितकर उसी पर कटिबद्ध हो, करना चाहिये, और जिस कार्य में लग जाय उससे कभी पराङ्मुख न हो और इधर की पृथ्वी चाहै इधर हो जाय, परन्तु चित्त में यही दृढ़ रक्खै कि बिना इस कार्य की समाप्त किये कदापि न हटूंगा, तो देखिये वह कार्य कैसे नहीं पूर्ण होता, उस कार्य को परमेश्वर स्वयं सहायक हो पूर्ण करते हैं।*



****
*****

प्रकृति सौन्दर्य्य

प्रकृति सौन्दर्य्य ! ईश्वरीय रचना का एक अद्भुत समूह है. अथवा उस बड़े शिल्पकार के शिल्पविद्या का एक छोटा सा नमूना है, या इसी को अद्भुत रस की जन्मदात्री-कहना चाहिये । सम्पूर्ण रूपसे वर्णन करना तो मानो ईश्वर के गुण की समालोचना करना है ।

हे प्रकृतिदेवी ! तुमको नमस्कार है, तुम्हारी मोहिनी स्वरूप अकथनीय है । द्वीप, महाद्वीप, प्रायद्वीप, समुद्र, नदी, पर्वत, नगर अथवा सम्पूर्ण जलस्थल तुम्हारे हो उदर में है । उनमें स्थान विशेष में ईश्वरीय शिल्पकौशल के साथ तुम्हारी मनोहारिणी छटा अतीव सुन्दर दृष्टिगोचर होती है । अगाध जल के तल में, समुद्र के गर्भ में, कैसी अद्भुत रचना ? कैसा आश्चर्य ? अहा ! यह विद्रुम लताका जलराशि में लहरों के साथ झूमना सीपियों का तथा छोटे २ जन्तुओं का इधर-उधर सञ्चरण, तथा विचित्र रूप की लताओं और बनस्पतियों के सन्निकट में अद्भुत जन्तुओं का समूह, और उनका जल तरंग के साथ २ हिलती हुई झाड़ियों में घूमना, अथाह जलके नीचे ऐसे ऐसे अमूल्य रत्न । और ऐसा सुन्दर मनोहारी दृष्य ! प्रकृति देवी ! तुम धन्य हो ।

हिम पूरति तराइयों में, तथा हिमावृत्त चोटियों पर अद्भुत रंग के नील पीत, ललित, कुसुम सहित लताओं का, शीतल बायु के झोंके से दोलायमान होना, पुनः प्रात· मूर्य्य के किरणों की छायाभास पड़ने से हिमावृत चोटियों को इन्द्रधनुष सा रंग जाना कैसा सुन्दर जनाई पड़ता है । समयानुकूल उनपर वर्फकी झड़ी और कड़ा वायु का झोंका कैसा हृदय को कँपाये देता है । शिखरों पर से वेग सहित बहती हुई नदियां, तथा उनके प्रवाह से अद्भुत शिलाखंडों का बनाव, और उनकी अद्भुत स्थिति देखकर बोध होता है कि मानों कोई गुप्त बल अभी तक इनको रोके हुए है । इसी प्रकार अनेक स्थानों अनेक नगरों में, कतिपय पर्व्वतों पर, तुम्हारा वही पूर्व कथित अद्भुत रूप दृष्टिगोचर होता है, जिनके पूर्ण वर्णन करने के लिये, मनुष्य की योग्यता और बुद्धि होही नहीं सकती ।

तुम्हारा समयानुकूल परिवर्तन भी कैसा सुन्दर होता है ? ऋतु विभाग के अनुसार 'बसंत' में कोमल ललित पत्तियों से सहकार वृक्षों को सुहावना बनाती हुई मधुर मञ्जरी, तुम ही उत्पन्न करती हो । अहा उस समय में तुम्हारी अद्भुत छटा देखने ही योग्य होती है । कहीं परिमित रूप से बहती हुई शैवालिनी में विकसे हुए अरविन्दों पर मधुव्रत माला रस लेते हुए आनन्दोल्लास से गूँज रहे हैं, कहीं अर्द्ध प्रस्फुटित रक्त, तथा कोमल पत्तियों सहित तरुण वृक्षों पर बैठे हुए रसमग्न कोकिल अपनी कुहूक सुनाते हुए, कोमल डालियों को दोलायमान करते हैं, सुरम्य बन, कुञ्ज, लता, उपबन, पर्व्वत, तटी, इत्यादि जहां दृष्टिपात करो उधर ही कुसुम पूरित डालियां दिखाई देती हैं ।

समय का तो कहना ही क्या है, प्रभात बाल अरुणोदय, पक्षियों का उड़ते हुए कलरव, शीतल सुरभित मलयानिल भगवान दिनकर की काञ्चनीय रश्मि,मनुष्यों का अपने कार्य्य में लगने का कलरव, तथा जनशून्य स्थानों में तुम्हारी ही मनोहर शून्यता, क्या ही अनुपम आनन्द का अनुभव कराती है। फिर वह मध्यान्ह के अंशुमाली भगवान का तप्त तेज, प्रचंड वायु, गर्म्मी की अधिकता का कैसा आतंक हृदय में उत्पन्न होता है। मधुरात्रि के तारागण मध्यस्थपूर्ण-चन्द्रमण्डल का अपने रजत-किरणों से जगत को धवलित करना, चन्द्रकिरण स्पशत मधुर मकरन्द पूरित वायु का सञ्चरण ! यह सब तुम्हारी ही अद्भुत छटा है।

पुनः ग्रीष्म के साथ ही साथ तुम्हारा परिवर्त्तन देखने में भी दुःसह होता है, सूर्य्य भगवान की अविश्राम तप्त किरणें, लूहका सन्नाटा मारते हुए झपट, तेज पूरित ऊष्ण निदाघ, कुसुमावली पूरित वृक्षों का मुरझाना, नदियों का शुष्क होते हुए मन्द प्रवाह, धरणी, तल परकी अविरल शून्यता, विचित्र प्रभाव उत्पन्न करती है।

परन्तु हे प्रकृति देवी ! तुम भी धन्य हो ग्रीष्म में भी अपने नष्ट प्राय वासन्तिक शोभा को रजनी में एक बार उद्दीप्त कर देती हो, वही शुष्क तथा मन्द वाहिनी नदियाँ, वे ही उच्च प्रासाद वेष्टित नगरावली तथा सुरम्य पर्व्वत तटी, जो दिनकर के तेज पूरित दिनमें दुर्दर्शनीय हो रहे थे, कुमुदिनी नायक के सुधाप्लावित किरणों से रजत मार्जित होने से कैसा सुन्दर तथा मनोहारी दृश्य में परिवर्त्तित हो जाती है। और वही विषम प्रचण्ड ऊष्ण वायु जोकि शरीर को झुलसाये देती थी, चन्द्रकिरण के स्पर्श से कुछ शीतल हुआ जाता है। यह सब क्या है ?केवल तुम्हारा ही अनियमित स्वरूप है।

अरे रे रे ! यह कैसा उलट पुलट, कहाँ निर्म्मल चन्द्र ! कहाँ यह श्याम सघन घन, कहाँ सुधाकण समान विकीर्ण तारागण का मन्द प्रकाश, और कहाँ यह सौदामिनी माला का बारंबार चमकना, कहाँ दिवाकर तेज में वृक्षों की उदासीनता, और कहां मेघावली के जल-सिञ्चन से पत्र पुञ्ज में हरियाली। वर्षा ऋतु में भी प्रकृति का कैसा सुन्दर तथा मनोहर दृश्य होता है, नवीन मेघमाला-च्छादित गगन मण्डल में दुर्जय वारिद रूपी दानव के असित शरीर पर इन्द्र के वज्रपात से चिनगी छिटकने के समान विद्युल्लता का बारंबार चमकना, तथा सघन वृक्षाच्छादित हरित पर्व्वत श्रेणी, सुन्दर निर्म्मल जल पूरित नदियों का हरियाली में छिपते हुए बहना, कतिपय स्थानों में प्रकट रूपसे वेग सहित प्रवाह हृदय की चंचल धारा को अपने साथ बहाये लिये जाती है। मयूरों का उच्च कदम्ब शिखर पर बैठे हुए कलनाद, कोकिलगण का कलरव झिल्ली समूह के झन्कार के साथ पवन वेग से गुञ्जित तथा कम्पित वृक्षावली शिर हिला कर चित्त को अपनी ओर बुलाये लेती है, तदुपरान्त सघन बुन्दियों की अविरल धारा क्षितिज पर्य्यंत हरियाली रकते हुए

वर्षा जलकी श्वेत आभा, नेत्रों के सामने कैसा सुन्दर दृश्य उपस्थित करती है। प्रकृति तुम धन्य हो, तुम्हारा अकथनीय स्वरूप मनुष्य के कल्पना में नहीं आ सकता। पावस निशा में तुम्हारा वह भयावह दृश्य हृदय को कम्पायमान करता है। गंभीर तमावृत्त संसार, मेघाच्छन्न आकाश में सौदामिनी के चमकने के साथ साथ घोर वज्रपात शब्द, वर्षा का गंभीर रंग झिल्लियों की झन्कार के साथ बार बार जुगुनू का चमकना, हृदय को अधीर किये देता है।

और यह क्या ? हे देवि ! यह कैसा अदभुत दृश्य ! कहाँ वह श्याम वनमें सौदामिनी माला कहाँ स्वच्छ नील गगन में पूर्ण चन्द्र; अहा, यह मुझेही भ्रम हुआ, यही तो तुम्हारा शारदीय स्वरूप है। वह देखो नगरों के सीमा के बाहर तथा नदी तट पर कास का विकास और निर्मल जल पूरित नदियों का मन्द प्रवाह, शारदीय चन्द्रका पूर्ण प्रकाश, सरोवरों में सरोज गणका विकास, कुछ शीत वायु, छिटकी हुई चन्द्रिका का हरितवृक्ष, उच्च प्रासाद, नदी, पर्व्वत, कटे हुए खेत, तथा मात्र धरणी पर रजत मार्ज्जित आभास, वाह ! वाह ! यह कैसा नटी की तरह जवनिका परिवर्तन, शीतका हृदय कँपाने वाला, वेग, हिम पूरितवायु का सन्नाटा, शस्यक्षेत्र में मुक्ताफल समान ओसकी बूँदैं, उनपर प्रभात सूर्य्य किरण की छाया। यह सब दृश्य कैसा आनन्द देता है। पुन: कृष्ण पक्ष के शिशरशर्वरी में गंभीर शीत वायु का प्रचन्ड वेग, गाढ़ान्धकार जिसमें कि सामने को परिचित वस्तु देखने में भी चित्त भय से काँप जाता है।

यह सब क्या है ? हे देवि ! यह सब तुम्हारी ही आश्चर्यजनक लीला है इससे तुम्हारे अनन्त वर्ण रञ्जित चरणों में शतश: नमस्कार है॥

—जयशंकर प्रसाद, काशी

—:०:—

सावन सोहावन

बांकी घटा की छटा छुटी मञ्जु
निकुञ्ज के पुञ्ज लगे मन भावन।
सोंधी समीर सनी लतिका
लपटीं तरु केलि कला दरसावन॥
मञ्जु तमाल की डाल पै बैठिकै
क्वैलिया कूकि लगी कलपावन।
आवन लागे बिदेसी सबै
लगे मोर सुनावन सावन सावन॥१॥

डोलैं लगीं मुद मंजु समीर
हरी हरी बाँकी छटा मन भावन।
छाई चहूं अँधियारी घनी
पपिहा की पिहूक लगी तरसावन॥
धावन लागे नए घनए
पिय प्यारे बिना हियरा लरजावन।
बीर बचैंगी बियोगिनी क्यों
कविईश जू लागे सोहावन सावन॥२॥

सावन आए न आए पिया
मद माते मुरैले लगे कलपावन।
पावन लागे बिथा अँग अंग
अनंग तरंग लग्यो दरसावन।
सावन हूक मचावन है
मन भावन प्यारे लगे तरसावन।
सावन लागे बचैं किमिवीर
सँयोगिन को सोहावन सावन।।३।।
सावन आये सोहावन ये
सखियाँ लगीं राग मलार सुनावन।
नाव न जानू भटू वहि गाँव को
हाय हमारे जहां मन भावन।।
भावन लागीं घटा सबके हिए
लालन मोंहि लगे कलपावन।
पावन लागे महा दुख प्रान
सुनैन लगे अँसुआ बरसावन।।४।।
चढ़ि कै नभ पै यह कारी घटा
अँधियारी लगी चहुँ ओर मचावन।
त्यों मदमाते मुरैले लिये
सरजी मरजी को लगे लरजावन।।
इन्द्र बधून की न्यारी छटा
इतै नौलवधून लगीं ललचावन।
बीजुरी बीजुरी सी चमकै
दमकै लगीं नाह गुनाह लगावन।।५।।
गावन लागे मलार सबै उत
धावन लागीं घटा मन भावन।।
ओज मनोज महीपति को लखि
वीर बिदेसी लगे घर आवन।।
"ईश" हमारे सिधारे नहीं
छनदा चकचौंधि लगी तरसावन!
धीर नसावन योगिन को
कलपावन लाग्यो सुहावन सावन।।६।।
—लक्ष्मीनारायण सिंह, काशी।

अखबार

सुनो सकल भारत! के लड़को
जिससे पाओ तुम सब धन को।
मानी धनी बड़े कहलाओ
अरु जीवन का लाभ उठाओ।।१।।

सत्पुरुषों के उज्वल काम
से साधो निज काम तमाम।
द्वेष ईर्षा देहु भुलाय
सीखो सकल काम मन लाय।।२।।

तुमसे इक विनती है यार
कभी कभी देखो अखबार।
दुनियाँ में क्या होता जाता
कैसा समय पलटता जाता।।३।।

समय वायु बहती किस ओर
किधर कहाँ, क्या है किस छोर।
कैसी रीति नीति है कैसी।
सोच विचार करो पुनि तैसी।।४।।

जो जो जाति सभ्य कहलातीं
अखबारों को वह पढ़वातीं।
समाचार सब पढ़ो पढ़ाओ
जिसमें सभ्य यहाँ कहलाओ।।५।।

अपना काम करो चितलाय
जो होवैगा अति सुखदाय।
पढ़ लिखकर जानो इतिहास।
जिस्मे नहिं होवे उपहास।।६।।

जो जो समय गप्प में खोते
खा पीकर आलस में सोते।
वही समय पढ़ने में खोओ
समय चूक नहिं पीछे रोओ।।७।।

जब तुम घर में पैसा पाओ
अखबारों को उससे लाओ।
देशबात सब जगह उड़ाओ
शिल्प कला वाणिज फैलाओ ॥८॥

देश प्रदेश घूमने जाओ
विद्या, कला, यहां पर लाओ।
जिससे मातृ भूमि कल्याण
हो जावे तब अपनी मान ॥९॥

समाचार को अगर पढ़ोगे
इतिहासों को अगर पढ़ोगे।
बड़ों बड़ों को तब जानोगे
सत्पुरुषों को सन्मानोगे ॥१०॥

मातृभूमि की उन्नति चाहो
अखबारें में चित्त लगाओ।
धैर्य बुद्धि साहस नहिं छोड़ो
आलस ही से मुख को मोड़ो ॥११॥

उपन्यास भी पढ़ो जो यारो
असत् त्यागि सत्मार्ग बिचारो।
इतिहासों से प्रेम बढ़ाओ।
जिससे आर्य पुत्र कहलाओ ॥१२॥

पूर्व पुरुष! उज्वल नामों को
ध्वनित करो अपने कानों को।
आर्य पुत्र! हो भारत नायक
बनो कहाओ जग में लायक ॥१३॥

— हरिदास माणिक, काशी।

--:o:--

शुभ समय

सुखद सुशीतल राशि, वरषि सुधा शिव भालते।
चहुँ दिशि कला प्रकाशि, "इन्दु" सकल मंगल करै॥

आज परम पुनीत श्रावण शुक्ल द्वितीया मंगलवार को, देवाधिदेव भक्तवत्सल करुणानिधान! त्रिपुरारि! काशीपुरीस्थ महाराजाधिराज महामान्य १०८ श्री विश्वनाथ! जी की पूर्ण कृपा से "इन्दु" को उदय होने का शुभ समय! प्राप्त हुआ है, अतएव देश हितैषी, एवं काव्य रसिक प्रेमियों को शतशः बधाई है।

हम समझते हैं, कि आज के दर्शन से हमारे सर्व हितैषी जन परम संतुष्ट हुए होंगे, इधर "इन्दु" जी भी प्रसन्न होकर अपने भक्तों को हृदय से आशीर्वाद देते हैं कि जो सज्जन प्रत्येक द्वितीया को हमारे दर्शन करने की इच्छा रक्खेंगे उनका प्रतिमास सदैव आनन्द मंगल से व्यतीत होगा।

इसके अतिरिक्त "इन्दु" का उदय इसी निमित्त हुआ है। और "इन्दु"! का मुख्य उद्देश्य भी यही है, कि जिसमें हमारे प्रकाश द्वारा देश मात्र का कल्याण हो, अतएव यह! साहित्य सेवा के साथ ही साथ अपने प्रेमी पाठकों को उत्तमोत्तम प्रबन्ध, गल्प, आदि कविताओं द्वारा नित-नव सुधा का आस्वादन कराने के निमित्त सदैव दत्तचित्त रहेगा।

आशा है कि हमारे हितैषी सज्जन "इन्दु" द्वारा प्रसवित सुधा को चकोर रूपी होकर प्रेमास्वादन करने का सदैव प्रयत्न करेंगे।

आवश्यकता

पत्र निकालने पर पत्रकारों को तीन वस्तुओं की परम आवश्यकता होती है, हम समझते हैं कि हमारे अनुभवी प्रेमी पाठक वृन्द ! उस आवश्यकता से अवश्य विज्ञ होंगे, क्योंकि उनको सदैव पत्रों से कार्य पड़ा करता है, परन्तु जो नहीं विज्ञ हैं, उनको समझाना परमावश्यक है। अस्तु वह आवश्यकता क्रमशः इस भाँति होती है।

प्रथम रुपये की, द्वितीय सुलेखों की, और तृतीय प्रेमी पाठक ! एवं उदार ग्राहकों की।

इसमें प्रथम ही वाले आवश्यकता के न पूर्ण होने से, भारत वर्ष में आज दिन बहुधा पत्रों के उदय होने पर भी, प्रायः अस्त हो जाना पड़ता है।

द्वितीय आवश्यकता भी कुछ न्यून नहीं है इसके अभाव से भी पत्रों को प्रायः बहुधा कष्ट उठाना पड़ता है।

तृतीय का तो कहना ही क्या है। बस इसी को न्यून अथवा अधिक समझिये कि इस आवश्यकता की पूर्ति बिना पत्रों का उदय होना ही दुर्लभ है।

अतः जो पत्र ! तीनों आवश्यकताओं से पूर्ण हैं उसी को सर्वाङ्ग सुन्दर पत्र समझना चाहिये। परन्तु यह तभी होगा जब कि तीनों ओर से आपस में शुद्ध हृदय द्वारा प्रीतिमय प्रेम का एक रूप होगा, क्योंकि उत्तम से उत्तम मधुर स्वर वाला वाद्य यन्त्र (सितार) रक्खा हो, परन्तु जब तक वह उँगली से न बजाया जायगा, वह कदापि नहीं बज सक्ता।

अस्तु इन्हीं बातों का मन्थन करके "इन्दु" ! उदय हुआ है, और उपर्युक्त दो आवश्यकताओं से यथा शक्ति पूर्ण है।

इनमें से प्रथम पूर्ण रुपया है। केवल "इन्दु" के निमित्त पत्रकार ने स्वयं १००० एक सहस्त्र मुद्रा प्रदान कर पृथक कर रक्खा है, कि जिसमें "इन्दु" निर्विघ्न प्रकाशित हुआ करै, और स्थिरता पूर्वक अपने प्रेमियों को नित नव सुधा का आस्वादन कराया करै।

इसी भाँति दूसरी आवश्यकता भी, जो कि सुलेखकों के विषय में कही गई है। वैसे ही कतिपय सुलेखकों द्वारा (जो कि "इन्दु" को प्रकाशमय करने के निमित्त सर्वतो भाव से प्रस्तुत हैं) "इन्दु"! सुशोभित है।

परन्तु तृतीय आवश्यकता, जोकि साहित्यानुरागी प्रेमी पाठकों के विषय में कही गई है इसका पूर्ण करना, उन्हीं महानुभाव उदार सज्जन ग्राहकों के हाथ है, जो कि वास्तव में साहित्यानुरागी एवं देश हितैषी हैं।

आशा है कि इस आवश्यकता के निमित्त भी मुझे विशेष परिश्रम न करना पड़ैगा, किंतु शीघ्र ही "इन्दु" ! शेष आवश्यकता से भी पूर्ण हो जायगा।

अब अन्त में पुन: एक बात की शंका उत्पन्न होती है। और वह शंका यह है कि कदाचित आप यह ध्यान न करैं कि पत्र तो बहुत प्रकाशित होते हैं, तुम्हारे ही पत्र में क्या है जो तुम्हारे ही पत्र से अनुराग करैं, परन्तु यह तो एक बात ही दूसरी है। यह तो अपने २ रुचि के अनुसार है। परन्तु नहीं, फिर भी जो कि विज्ञ सज्जन हैं, वे सभी को ग्रहण करते हैं और उसके योग्यता को विचार पूर्वक देखते हैं और इस बात को भली भाँति समझते हैं कि अभी भी "भारत" को पत्रों की आवश्यकता है।

क्योंकि देशोन्नति का एक यही सरल मार्ग है जिससे कि मनुष्यों को अपने देश का पूर्ण वृत्तान्त ज्ञात होता है, और पुन: वैसा ही करने से देश की उन्नति होती है।

देखिये जापानी! जो दिनों दिन इतनी उन्नति और यश विभव को प्राप्त कर रहे हैं, कैसे कर रहे हैं? अत: उसका यही कारण है कि वे लोग राजा! में सदैव भक्ति रखते हैं, और उच्च जाति से लेकर नीच तक, तथा चलते, फिरते, उठते बैठते, सभी मनुष्य समाचार पत्र, और पत्रिकाएँ देखा करते हैं, और देश का समाचार जान कर "ऐक्यता" सहित वैसा ही कार्य करते हैं कि जिसमें देश की उन्नति, और साथ ही उनकी भी हो। वहां के साधारण २ व्यक्तियों का समाचार पत्र तथा पत्रिकाओं के पीछे पचास पचास रुपये वार्षिक व्यय हो जाते हैं। यहां तो अभी वहां के पत्रों का शतांस भी पत्र नहीं निकलता। अभी भी कई एक प्रदेश भारत में ऐसे हैं जो पत्र तथा पत्रिका विहीन हैं, अतः जबकि यहाँ भी विद्या का प्रचार इतना हो कि नगर-नगर घर-घर सर्व मनुष्य! पत्र तथा पत्रिकाओं को चाव की दृष्टि से देखने लगें, तब कहीं इस देश की, पुनः उन्नति हो। नहीं तो जब आपको घर ही का समाचार न विदित होगा, तो आप किस सहायते से ऐसा कार्य कर सक्ते हैं कि जिससे देश का और साथ ही आपका भी लाभ हो।

अतएव "इन्दु" का उदय इसी निमित्त हुआ है कि जिसमें अपने प्रकाश से जगत्‌मात्र को आनन्दित तथा मंगल मयं करै। यदि सज्जन जन "इन्दु" पर प्रेम सहित सदैव अविचल भक्ति रक्खेंगे, तो शीघ्र ही यह अपने मंगलमय पूर्णरूप से प्रकाशित होगा।

हम आशा करते हैं कि हमारे गुणज्ञ प्रेमी पाठक वृन्द! अपने सुधा रूपी पवित्र नेत्रों से अवश्य इस "पत्र" को सिंचन करने का प्रयत्न करेंगे और शीघ्र ही मुझे पत्र द्वारा (तथा मनिआर्डर द्वारा वार्षिक मूल्य भेजकर) अपने शुभ रुचि से प्रोत्साहित करते हुए, द्वितीय संख्या के भेजने की आज्ञा देंगे, और साथ ही देश हितैषिता के सच्चे प्रेमी हो, एक भारी यश के भागी होंगे।

—:०:—:०:—

मनोरञ्जक वार्ता

सन्त शेख अहमद एक वृक्ष तले कम्बल का टोप पहने बैठे थे। उसी समय आकाश वाणी हुई "अहमद"! अपनी टोपी बेचोगे?"

वह बोले—"मेरी टोपी के दाम तेरे पास हैं।"

आज्ञा हुई—"जो माँगो सो दें।"

अहमद ने कहा—"सिवा दोनों लोक की सम्पदा के तेरे पास है क्या ? इसका मुझे प्रयोजन नहीं है।"

आज्ञा हुई—"जो ऐसी बेअदबी करोगे तो हम लोक में तुम्हारी निन्दा करा देंगे, फिर तुमको कोई बाबा जी न कहैगा।"

तब वह लाड़िले सन्त बोले—"बस, आप भी चुप रहिये नहीं तो मैं आपकी दयालुता लोगों में प्रकट कर दूँगा, फिर कोई आपकी वन्दना न करेगा।"

प्रभु हँसे, और कहा—"न तुम मेरी कहो, और न मैं तुम्हारी।"

-:o:-:o:-

समाचार

काशी समय साधारण है इस मास वृष्टि सामान्य ही हुई। गत अधिक श्रावण शुक्ल १० रविवार को विश्वेश्वर थिएटर हाल में "नागरी नाट्य-कला प्रवर्त्तक मंडली"ने "सत्य हरिश्चन्द्र" नाटक का अभिनय दिखलाया था। यद्यपि मंडली का यह पहला उद्योग था, तथापि मंडली के पात्रों ने अपने परिश्रम का अच्छा फल दिखलाया था। इस मण्डली से पूर्व ही आषाढ़ शुक्ल ७ को "भारतेन्दु नाटक मंडली" ने भी इस अभिनय को दिखलाया था, इस मंडली का भी परिश्रम प्रशंसनीय है। बाबू हरिदास माणिक ने शैव्या का पार्ट बहुत ही उत्तमता से दिखलाया था, और दर्शक गणों को रुला दिया था।

———

जङ्गी लाट किच्नर की मूर्ति स्मारक स्वरूप स्थापित करने के निमित्त कलकत्ते में चन्दा एकत्र हो रहा है, राजा महाराजा एवं बड़े-बड़े जिमीदार बढ़-बढ़ कर चन्दा दे रहे हैं।

———

गढ़वाल के डिप्टी कलेक्टर श्रीयुत मान्यवर धर्म्मानन्द जोशी जी को पुत्र-रत्न लाभ हुआ है, यह सुन कर हम लोगों को अति प्रसन्नता हुई है, परमेश्वर से प्रार्थना है कि पुत्र चिरञ्जीवी हो।

———

गुप्तदान—एक मुसलमान सज्जन ने नवाब रामपुर द्वारा अलीगढ़ कालेज को एक लाख रुपया दिया है। हाल में इससे आधी सहायता रंगून के एक धनी व्यापारी दे चुके हैं। उदारता! इसी को कहते हैं।

गेहूँ विदेश भेजने के लिए कराँची बन्दर की ओर अति शीघ्रतापूर्वक ढोए जा रहे हैं, गत मास में प्रायः ५६ लाख मन गेहूं बन्दर में पहुंच गये, इस पर भी लोग पूछते हैं कि अन्न सदा महँगा ही क्यों बना रहता है। -----

वायुयान जर्मन के काउण्ट जप्लिन दिन-दिन अपने वायु पथ से चलने वाले जहाजों के उपयुक्तता की वृद्धि कर रहे हैं, अभी तक उनका जहाज एक देश से दूसरे देश ही जाने में समर्थ था, परन्तु अब वे अपनी कुल शक्ति सामर्थ व्ययकर ऐसा जहाज तयार करने वाले हैं, जो पहिले के सब जहाजों से अच्छा टिकाऊ और शीघ्रगति होगा। ठीक है, करने ही से सब कुछ होता है।



(ॐ इन्दु शेखरायनमः)

'इन्दु'

मासिक पत्रिका

सज्जन चित्त चकोरन को, हुलसावन भावनपूरो अनिन्दु है।
मोहन काव्य के प्रेमिन के हित सांच सुधारसको वलिविन्दु है।।
ज्ञान प्रकाश प्रसारि हिये बिच, ऐसो जो मूरखता तमभिन्दु है।
काव्य महोदधिते प्रकट्यो, रस रीति कला युत पूरण "इन्दु!" है।।

कला १ } भाद्रपद शुक्ल २ सम्बत् १९६६ { किरण २

धन्यवाद

हर्ष का विषय है कि हमारे प्रिय पाठक गण "इन्दु" के प्रकाशित होने से अत्यंत ही प्रसन्न हुए हें, और पत्र द्वारा अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हुए, आगामी संख्या वी० पी० द्वारा भेजने की आज्ञा दीं है, इनमें से विशेषतः हमारे प्रेमी पाठक ऐसे भी हैं, जिन्होंने कि पत्र को स्वीकार कर, और उसका सन्मान करते हुए मनिआर्डर द्वारा वार्षिक मूल्य ही भेज दिया है। और कतिपय "इन्दु" के ऐसे भी उदार प्रेमी हैं, जो कि "इन्दु" के प्रकाशनार्थ एवं सहायतार्थ सर्व भांति प्रस्तुत हैं। इसमें से स्थानीय एक तो बाबू जै शंकर प्रसाद जी सुंघनी साहु हैं, जिन्होंने कि इन्दु के सहायतार्थ एक शत १००) मुद्रा दिया है, और पत्र का मूल्य

सदैत्र के निमित ५) पांच रुपया देना स्वीकार किया है। द्वितीय चौधुरी लक्ष्मी-नारायण सिंह जी हैं जिन्होंने कि पत्र के सहायतार्थ १०) दस मुद्रा, और वार्षिक १२) देना स्वीकार किया है (१) इन कृपालु हितैषियों के, एवं प्रेमी पाठकों के हम हृदय से कृयज्ञ हैं। यह पत्र उन्हीं का है, चाहै अच्छा हो या बुरा, अपने प्रेमी पाठकों को सर्वथा मुदित करने के हेतु, देश सेवा, तथा साहित्य सेवा करने के लिये, यह पत्र ! सदैव दत्त चित्त रहैगा। अतएव अपने उपयुक्त प्रेमी हितैषियों को यह हृदय से कोटिश: धन्यवाद देता है।

साथ ही उन लोगों को भी हम धन्यवाद देना नहीं भूल सक्ते, जिन्होंने कि लौटा कर कार्ड द्वारा घनाभाव से पत्र न लेने की इच्छा प्रकट किया है।

और वे महाशय जो कि पत्र ! पाकर अद्यावधि चुप बैठे हुए हैं, वे "इन्दु!" के नियमानुसार पक्के ग्राहक समझे गए हैं, अत: उनके सेवा में आगामी अंक ! वी० पी० द्वारा भेजा जायगा। उनको उचित है कि पत्र का वार्षिक मूल्य देकर पत्र को स्वीकृत करें, पुन: वे महाशय भी धन्य-वाद के भागी होंगें।

परन्तु जिन महाशयों को ग्राहक होना अस्वीकार हो, उन्हें उचित है कि पत्र को लौटा दें, अथवा कृपा पूर्बक पत्र द्वारा शीघ्र सूचित करें, नहीं तो वे भी ग्राहक समझे जायंगे, और आगामी अंक उनके सेवा में भी, वी० पी० द्वारा भेजा जायगा। अतएव विना सूचित किये हुए, उस समय वी० पी० लौटा देने से व्यर्थ हमें हानि पहुंचेगी।

१–शेष सहायकों की नामावली आगामी अंक में जायगी।

—:०:—

अम्बिकाष्टकम्

मंगल सदन, मंजु अम्बुज वरन, बुध
वन्दित चरन, तम तामस हरन ज्योति ।।
दारिद दरन, गुरु गरिमा भरन, गुन गौ-
रव सुकेतु पथ अम्बर लसै उदोति ।।
"ईश" निधि ज्ञान गुच्छ, कैधों नख पाँति
शुक्र,उदित अगस्त यश शरदविकाशकोनि।।
परत प्रकाश अम्ब तरवा तरनि विम्ब,स-
न्त मन मानस मयंक द्यु ति दूनी होति।।१।।

अमल अनूप आभा आनन प्रकाश मान,
रतन किरीट स्वच्छ सोहृत महानीके ।।
सिद्धि निधि सेवत सदाहीं करजोरे जाहि,
दिव्य द्यु ति दीसत प्रभाब सुख दानी के ।।
मंजुल हिमांशु तुल्य राजत प्रभाबिभस,
कमला सनस्थित पवित्र गुण खानी के ।।
ध्यावतै सुलभ जन पावत महान मोद,
बन्दौं युग पाद पद्म अम्बिका भवानी के।२।

विद्युत दाम समा निदरैं,
समता हरैं इन्दु पुनीनन के ।।
मधुराका विभाति नखावलीपै,
उपमा दुरैं चारु चुनीनन के ।।
तरवा की प्रभा अरुणोदय बाल,
प्रवाल धौं मंजु मनीनन के ।।
अचला चलै जाकीकला निरखे,
मचला मन होत मुनीनन के ।।३।।
दबि दामिनी जाति प्रभानिरखे,
सुखमा किती चम्पक मालकी है ।।
कलधौंत हूं कैसे करै समता,
उपमा कहा कन्जकमालकी है ।।
द्युति अम्बकी को कहि पारल है,
उलहै छवि मंजु मसालकी है ।।
सुचि आरसी ज्योति दुरै निदरै,
छहरै छटा छोर जमालकी है ।।४।।
ध्ययावत शेष सुरेश धनेश,
सदाँ सबकी है तुहीं लगि दौरैं ।।
अम्बुज आसन, और वृषासन,
तेरेही शासन मैं कर जोरैं ।।
पूरी दया रसकी निधि तू,
सिधि दायिका दीनन को सब ठोरै ।।
दायिनी मंजु महा सुख की,
सर सावनी अम्बतेरी दृग कोरैं ।।५।।

विराजति अम्ब महावरदानि,
सुज्वालसी ज्योति जगै सुखखानि ।।
निवाजति दीनन पैं, निसि द्योसहिं,
साजति मंगल मोद महानि ।।
निवारति आरत भक्तन की,
अनुसारति काज समैं अनुपानि ।।
सुधारति धर्म धरा धुरसी,
सुरसिद्धि समाधिअ राधिकारानि।।६।।
स्वाहा स्वधा है स्वरात्मिका तू,
सुधा मक्षरे नित्ये त्रिधा छविधारिनि
अर्द्ध मात्रास्थिते अम्बिके पाहि,
सुखासिने मानस मंजु विहारिनि ।।
त्वंश्री स्त्वमीश्वरी ही जननी,
प्रकृती कृती भूति गुणत्रय स्वामिनि।।
त्वच्चरणे भवभामिनि देवि,
विधेहिमे भक्ति महासुखदायिनि।।७।।
हेरिकै नेक दया दृग फेरिकै,
"ईश" पै क्यों न कृपा करती है ।।
भारत बैन् सुने जननी,
जननो हूवै कलाम कहा करती है ।।
तेरो कहाय के जाऊँ कहाँ,
इतनो हूँ विचार नहीं करती है ।।
मोंहि पुकारत वेर भई,
जगदम्ब विलम्ब कहाँ करती है ।।८।।

०:—:०:—:०

समय

अहा "समय ! तेरी भी क्या विचित्र महिमा है, तेरे स्वाभाविक परिवर्त्तन ! का वर्णन करना मानो स्वयं भी उसी में परिर्वातित हो जाना है।

प्रातः काल हुआ, पल, के बाद मिनिट, मिनिट के बाद घंटा होते-होते मध्यान्हकाल हो गया, कि १ बजा गिनते-गिनते दो बजा, सायंकाल हुआ रात्रि हुई अर्द्ध रात्रि हुई, अरे यह क्या ? यह तो कुछ ही समय में पुनः प्रभात ! वाह, वाह ! समय देव धन्य हो वास्तव में तुम्हारा प्रत्येक रूप ! अकथनीय है। तूने किसी को भी नहीं छोड़ा, जीव, चराऽचर नर, पशु पक्षी आदि, संसार की जितनी वस्तुएँ हैं, सब तेरे ही आधीन हैं— अच्छे २ मनोहर नगरों को, ऐश्वर्य्य शाली राजा महाराजाओं को, तथा उनके दृढ़ दुर्गम दुर्गों को—अत्युत्तम विहार-स्थलों को, और सौन्दर्य्यता की राशियों को उजाड़, दरिद्रपथिक, श्मशानवत, बना देना, तथा वैसे ही दुर्गम वन्यस्थलीय भयावह पशुओं के निवासस्थानो को, मनोहर नगर, चित्ताकर्षक विहारस्थल—प्रतापवान राजा महाराजाओं का निवासस्थान, तथा उनके दृढ़ दुर्गम दुर्ग—और उसी को स्वच्छ सौन्दर्य्यता की खानि कर देना तथा राजा से रंक—रंकसे राजा, हरासे सूखा—सूखा से हरा, सुकाल से अकाल, अकाल से सुकाल—और योंही अच्छा से बुरा-बुरा से अच्छा कर देना, मानो तेरे बाएँ हाथ का एक सहज खेल है।

अतः हे "समय देव !" इसी प्रकार, प्रत्येक स्थानों में तुम्हारा वही पूर्वकथित अद्‌भुत रूप दृष्टिगोचर होता है, जिस्का कि वर्णन करना मानो एक लग्गे द्वारा आकाश को छूना है, और जो कि मनुष्यत्व के बिल्कुल बाहर है।

आह ! तूही ने इस रत्नमयी आमोद पूर्ण भारत ! जननी को इस समय निरा-मोहपूर्ण आरत कर दिया है। हा ! एक वह दिन था जबकि भारत वर्ष सर्व देशों से उच्च तथा मान्य गिना जाता था, तेरे ही चक्र से वही भारत अबअधःपतितावस्था को प्राप्त कर, सर्व साधारण की दृष्टिमें घृणास्पद हो रहा है, वही भारत जहाँ की कला कौशल, शिल्पचातुर्य्यता, सर्वत्र प्रसिद्ध थी, और जहाँ शिक्षाग्रहण करने के निमित्त अन्य विदेशीगण दूर २ देशों से आते थे, वही भारत अब उन्हीं शिक्षित विदेशी नगरों से स्वयं शिक्षा ले रहा है, वही भारत ! जो कि सदैव ही सब कलाओं से पूर्ण हरा भरा रहता था, वही अब, हे समय ! तेरे ही प्रभाव से जर्जरित हो दिनोदिन क्षीणता का अवलम्बन कर रहा है। वही भारत ! जहाँ के मनुष्य उद्योगी, उत्साही, परिश्रमी, व्यापारी, धनिक, धार्मिक, सत्यवादी. तथा दृढ़व्रती कहे जाते थे, अब उन्ही आर्यों के वंशज, निरुद्योगी, निरुत्साही, अपरिश्रमी निर्द्धन, दुराचारी तथा कुटिल और झूठे

कहे जाते हैं। आह समय! यह तेरे ही चक्र का घुमाव हैं।

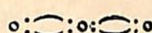
वह भारत! जहाँ के प्रत्येक राजा, प्रजा के मंगल कामना की, अहर्निश चिन्ता एवं प्रयत्न किया करते थे, उन्हीं महान राजाओं के अधिकांश वंशज, आज दिन मदोंन्मत्त हो वेश्याओं की परिचर्या में अपना काल यापन करना श्रेय समझते हैं। यह सब क्या है? केवल हे समय यह तेरी ही अनुकम्पा का अनुपम प्रभाव है।

जहाँ की प्रत्येक प्रजा आनन्द पूर्वक व्योपार सहित, अपना जीवन व्यतीत करती थी, तथा जहाँ अकाल का नाम भी नहीं था, वहीं की प्रजा अब प्रत्येक वर्ष, अकाल से पीड़ित हो, बिना व्यापार के दुखित हो रही है।

जहाँ प्रत्येक शिक्षित, प्रजा, सदा सर्वदा अपने पुत्रों को विद्या द्वारा सुशिक्षित बनाने काप्रयत्न करती थी, वहीं की प्रजा अब जानती ही नहीं की विद्या! क्या वस्तु है–अर्थात वही 'भारत'! जहां की प्रत्येक वस्तु सुखमय होती थी, वहीं की अब वही वस्तु कुछ दु:ख मय बोध होती है।

यह सब क्या है? "समय देव"! यह तेरी ही बिडम्बना चक्र का एक छोटा सा चक्र है—अत: यह तेरा स्वाभाविक परिवर्त्तन अकथनीय है, और इसी से यह आशा है, कि एक न एक दिन, तू अवश्य अपने स्वभावाऽनुसार उपरोक्त कथित वार्ताओं को विपरीत कर देगा, और मलिना दीना दु:खिनी "भारत!" जननी को पुन: उसके पूर्वपद पर उसे आरूढ़ करा देगा।

अत: हे सर्वाधिदेव "समय देव!" तुम्हारे परिवर्त्तन मय अकथनीय श्री चरणों में कोटिशः प्रणाम है।



प्रेम पथिक

छाड़िके अभिराम अति,
सुखधाम चारु अराम।
पथिक इक कीन्ह्यो गमन,
सुप्रवास को अभिराम॥

निज नगर सीमा लख्यो,
जब खड़्यो व्है ततकाल।
लग्यो निरखन व्यथित हियते,
भरे चखजल हाल॥

ग्राम देवहि करि प्रणाम,
चल्यो बहुरि धरि धीर।
प्रियजनन को चेत करि,
अरु सेइ सुभगसमीर॥

लहि रसाल रसाल छाया,
विहँग कलरव शान्त।
सुनि श्रवन, भास्कर किरणते,
होइ के अति श्रान्त॥

चल्यो निज पथ सोधिके,
मन बोधिके बहु भाँति ।
झेलिके अविराम पावत,
दुःख, सुखकी पाँति ॥
अंशुमाली प्रखर कर को,
सहि सक्यो नहि ताप ।
बैठिगो बट शीत छाया,
माहिं करि अनुताप ॥
"पी कहाँ" पुनि "पी कहाँ" कहि,
उठ्यो चातक चारु ।
पथिक देख्यो डाल पर,
तेहि बैन रस उदगार ॥
लग्यो सोचन धन्य हौ तुम,
सुमुख चारु विहंग ।
बिहरि करि स्वच्छन्द क्रीड़ा,
निजरमणि के सँग ॥
"पी कहाँ" पुनि काहि हेतु,
सुनावहू अभिराम ।
जाहि सुनि धुनि उठत,
अद्भुत खोइ देत अराम ॥
निज प्रिया ते बिछुरि के,
कहुँ सोचिहौ यह बात ।
"पी कहाँ" सार्थक तहाँ,
तब होइहै अवदात ॥
पथिक तेहिछन उठ्यो,
निज कर्त्तव्य कोसुविचारि ।
दुखित चातक बैन ते,
मग चल्यो निजपग धारि ॥
बहुरि आगे मिली इक,
सरसी विमल जल पूर ।
कुवलयावलिको विकास,
लख्यो जहाँ भरि पूर ॥

पथिक तृष्णा तृप्ति हेतु,
गयो सरोवर तीर ।
विमल जलको पान करि,
सोपान बैठ्यो धीर ॥
लग्यो देखन जल विमल,
अरु वायु क्रीड़त संग ।
उठलकमलहि लाइके,
अति मधुर नाद तरङ्ग ॥
पथिक पुनि निज पथ लख्यो
अरु चल्यो सो अविराम ।
परचो इक मरु भूमि में,
नहिं पाइ दूजो ठाम ॥
दीन हीन अति श्रमित तन,
आशा तरुवर छाँह ।
"प्रेम पथिक" बैठो तहाँ,
तिरत शोक निधि माँह ॥
बहुत कपोलन पै ललकि,
अविरल आँसू धार ।
तजि सीमा बहिगो मनहुँ,
करुणा रस को सार ॥
करपै राखि कपोल,
अति दीरघ निश्वास लै ।
भरिके लोचन लोल,
लाग्यो सोचन मनहि मन ॥
हाय कहाँ आयो मैं यहि बन माहिं ।
एक यहै तरु दूजो छाया नाहिं ॥
अहो ! न या बन तृन हूँ कहूँ दिखात ।
जोऊ है सो नित प्रति सूखत जात ॥
हा रस मेघ न द्रवत बारि क्यों मींत ।
आशालता निरखि हम होत सभीत ॥
रात दिवस सब इकसम लखत न भेद ।
जादू सम जग दीसत हा अति खेद ॥

काह करूँ कित जाऊँ कछु न दिखाय ।
हाय ! हाय ! जक लागी कहुँ न सुहाय ।।
तपन तापसों सब तन झरसत जाहि ।
छाले पड़िगे सोचत चित पदमाँहि ।।
मनुज एक तहँ आइ कह्यो यह बात ।
"तुमतो अतिही कोमल प्रकृति लखात ।।

अहो पथिक यह सोई उपबन कुंज ।
जामें भूलि धरै नहि पग अलिपुंज ।।
चित्त कल्पना अलिसम मत गुञ्जार ।
यहि तरुमें है नहिं कोउ कुसुमित डार ।।

चन्द ! वहै, यह अहै लखैन चकोर ।
कुमुदिनि विकसित होय न लखि यहि ओर
सूर ! चन्द ! कछु भाखत बनत न याहि ।
देखत नलिन सुनलिनी हुँ मुरझाहिं ।।
यह वह चुम्बक ! अहै जु निजते दौर ।
लपटत लोहा के सँग अति वर जोर ।।
यह शृँगार ! वह अहै, रहै नहिं भेद ।
भेद वहै यह जाहि पढ़ेते खेद ।।
अलङ्कार यह वहै, रहै धुनि हीन ।
यह वह नवरस अहैं जो सबरसछीन ।
यहि उपवन में रहै वायु कहुँ नाहि ।।
या मारूत के लगे कली मुरझाहि ।
यह वह श्रम शाला है रहै जो सून ।
सून रहै पैं कलरव नितप्रतिदून ।।
प्रेम ! चक्रवर्ती राजा ! के राज ।
हाय ! दुहाई ! सुनी जात नहिं काज ।।
व्है प्रसन्न कोऊ को देहि इनाम ।
काम न आवै रहैन जगते काम ।।

मन ! मानिक मनि बेचै चहैं जो दाम ।
लौह दाम गल पड़े लहै न छदाम ।।
लखि सुकुमार तुम्हें हम शिक्षादेत ।
फिरहु "पथिक" यह मग अति दुःखनिकेत।

पथिक कह्यो "हौ कौन रहौ केहि थान ।
हमे सदाशय शिक्षा देत महान ।।
करहु कृपा मम स्वामी होहु दयाल ।
वेगि उबारहु परे प्रेम के जाल ।।"
वह बोल्यो "हम प्रेम अहैं सुन मीत ।
करौं कृपा तुव ऊपर होहु अभीत ।।"
प्रेम मूर्ति धर देखत गिरो लजाय ।
प्रेम पथिक जक लागी हा! हा! हाय ।।
गह्यो क्रोधकरि प्रेमहि, अति अकुलाय ।
लाग्यो कहन विलखिकै "अरे अदाय ।।
इतने दिवस कियो मोहिं अति हैरान ।
आज लग्यो शुभ शिक्षा देन महान ।।
प्यारे के दृगमें बनि तीखो सैन ।
पहिले मार्यो मेरे हियमें बान ।।
भर्यो हलाहल कारो पुतरिन माँह ।
गोली बनिवेधत हिय मिलत न छाँह ।।
कारी लाँबी लट में बनिके फाँस ।
फाँसत है, तहँ तेरोही है बास ।।
हाय ! अरे वा सुधा सनी मुसुक्यान ।
अधरन में बनि वस दामिनी समान ।।
अरुणाई झलकत जो बीच कपोल ।
तेरोई प्रतिबिम्ब लखै चित लोल ।।
अबजान्यों मैं तेरी छलबलचाल ।
बहुरूपनते करत हिये में साल ।।
नल ! आदिक बहु फँसिगे तुम्हरे जाल ।
शकुन्तला ! दमयन्ती ! सी मृदुबाल ।।
तोहि न आवत दया सुहिया कठोर ।
विरह तपावत अंगहि निशि अरुभोर ।।
राजकुमारी, कुँवर विबुध गंधर्व ।
नर किन्नर यक्षादिक खर्वाखर्व ।।
तेरे तीरथ में करि मज्जन आस ।
भये तृप्त नहि कबहूँ बुझी न प्यास ।।

कंठ विगत कियप्रानहिं दीनहिं कूर ।
अपने जनको मारत बनिके सूर ॥"

"प्रेम विहसि बोल्यो तब इतनी बात ।
मेरे बंधन ते तू अबहि परात ॥

हियेराखिकछु धीरज सहि कछुपीर ।
आशा और निराशा नैनन नीर ॥

कंपन, जृम्भन, आलस, क्लेश अपार ।
ये सब हैं मम भूषण बरक्षुर धार ॥

प्रियहि चहो तो सीखो जलज, सुरीति ।
रहहु सदा रस आकुल चाखहु प्रीति ॥

पथिक ! धीर धर चलिये पथ अति दूर ।
ह्वै कटिबद्ध सदा सनेह में चूर ॥

पथिक कह्यो-है तुमसम नहिं कोउ ओर ।
शंका, दृढ़ता, हर्ष, शोक, इकठौर ॥

कहौं सत्य पुकारिकै
सुनि लीजिये सब लोग ।
दुःख मूल विपत्ति सागर
प्रेम, है यह रोग ॥

प्रेम ? सिन्धु अथाह, थाह
लहै न कोऊ तीर ।
हा ! मनोरथ तरल तुंग
तरंग उठत गँभीर ॥
आश, और निराश, के जुग,
नाव पै धरि पैर ।
शोक दुखके जन्तु ते बचि,
जान चाहत तैर ॥
प्रेम ! सों जनि प्रीति कीजो
समुझिल्यो मन माहिं ।
प्रेमको जनि नाम लीजो,
भूलि जाओ याहि ॥
हौं बतावत और को,
हा ! दशा अपनी देखि ।
परे अबही लौं अहैं,
हम प्रेम जाल विसेखि ॥
भये दुर्बल, दीन तन,
अरु नैन ते जलधार ।
वही आशा छाहँ रट,
पुनि हाय ! बारहिंबार ॥

— जयशंकर प्रसाद काशी ।

—*—

आदर्श कुमारी

हे लड़कियो ! यदि तुम्हें "आदर्श कुमारी" किसे कहते हैं ? यह जानना हो, तो नीचे लिखे हुए विषयों को ध्यान सहित पढ़ो, और वैसा ही मन लगाकर करो, ऐसा करने से तुम भी आदर्श कुमारी कहला सकोगी ।

देखो जो लड़की लिखने पढ़ने में मन लगाती है बिद्या और गुणों से भरी पूरी बनने का यत्न करती है, तथा सती, सीता आदि के जीवन चरित्र पढ़ती हैं, और उसको मननकर उन्हीं के अनुसार स्वयं भी बनने का प्रयत्न करती है वही आदर्श कुमारी ! है, और उसी लड़की का सर्वत्र मान होता है, जहां जाती है आदर पाती है । विद्या माता के समान रक्षा करती है पिता के तुल्य हित में

लगाती तथा सारे दुःखों को काटती हुई यश और कीर्ति को बढ़ाती है।

विद्या के प्रकाश से वह पदार्थ देख पड़ते हैं जो कभी आंखों से दिखाई नहीं देते, विद्या के प्रभाव से घर बैठे देश-देशान्तर के समाचार विदित होते हैं, विद्या के होने से रूप की शोभा बढ़ जाती है, चित्त अत्यंत प्रसन्न रहता है। इस गुप्तधन से बड़ा ही सुख मिलता है इस से जगतमात्र वशीभूत होता है। जो लड़कियाँ मन लगाकर विद्याभ्यास करती हैं, और नीति रीति पर चलती हैं उनको धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष मिलता, और लोक परलोक दोनों सुधरता है।

और जो लड़की पढ़ने में ध्यान नहीं लगाती, अनपढ़ और गुणहीन रह जाती हैं वह जनम भर पछताती, माँ बाप की हँसी कराती और उठते बैठते ससुराल वालों की तानें सुनती हैं।

अतएव हे लड़कियों ! तुम्हें चाहिये कि अपना समय एक क्षण भी वृथा न गंवावो, नियम बाँध के नित्य दो घड़ी रात रहे उठो, प्रातः कृत्य कर परमेश्वर का स्मरण कर और झाड़ू बोहारू देकर गृह साफ सुथरा कर डालो पुनः इससे खाली होनेपर पिछला पाठ कर जाओ फिर आगे जो पढ़ना है उसको अपने आप उठाओ इसके पीछे रसोईं के वास्ते दाल चावल चुन डालो, अथवा माता जो धंधा बतावे फुरती से कर डालो।

गुरुवानी जी के पास जब पहुँचो झुकके प्रणाम करो और सावधान हो कर बैठो, जो वह पढ़ावैं या बतलावैं चित्त लगाके पढ़ो और सुनो, जहाँ न समझो या भूल जाओ, पूछ लो, और अच्छी तरह से याद कर डालो फिर अपनी माता के पास जाकर रसोई के कामों में उसकी सहायता करो, और जो जो पदार्थ जिस २ भांति पकाती हों, उसको देखो और समझो, चटनी रायता इत्यादि बनाओ, और पिता चाचा भाई आदि के भोजन के निमित्त उनके आने से पहले आसन में चौके बिछाके, पानी, गिलास, अचार, चटनी, मुरब्बा आदि जो जो पदार्थ उनके रुचि के हों, धोई पोंछी प्यालियों में, रखके सुंदर थाल में जमाओ, और पान की गिलौरियाँ बना रक्खो जब वह खाने बैठें खड़ी होके पंखे से हवा करो, और जब खा चुकें हाथ धुला कर पान दो।

माँको जब रोटी बनानी न हो, तब तुम आप बनाओ, और ध्यान रक्खो कि कोई पदार्थ जलने न पाये, न कच्चा रह जाय, नमक और ताव भाव सबका ठीक, रंग रूप सुथरा, और स्वाद अच्छा उतरे जो पदार्थ पकाके पतीली से निकालो वह सुथराई के साथ अलग अलग ऐसे बर्तनों में ढँक के रक्खो, जिनका कि कसाव न उतरे।

खाने खिलाने के पीछे थोड़ी देर सुस्ताकर गृहस्थी के जो और धंधे हों उनमें भी माँका हाथ बटावो, और रखने ढकने चुनने बिनने सबसे जल्दी छुट्टी करके अपनी स्लेट पिनसिल, वा पट्टी

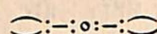
खड़ी, वा कागज कलम और दावात लेके घंटे भर लिखो।

इसके बाद सुई लेके बैठो। कुछ सीना न आता हो तो पहले सीधी सिलाई करो, जब लिखने की तरह उसमें भी हाथ जम जाय तब तुरपना और बखिया करना सीखो, मर्दाने जनाने सब तरह के कपड़ों की काँटछाँट समझो कसीदा काढ़ो बेल बूटे बनाओ, मोजे, दस्ताने, गुलूबंद आदि बिनो, और भांति २ के सुई के काम चित्त लगाके सीखो। इसके पीछे घंटा भर सखी सहेलियों के साथ भी दिल बहलाओ।

पुनः साँझ को अपनी माँ के साथ रसोंई का धंधा करो, ब्यालू बनाओ, और सबको खिला पिलाके घंटे दो घंटे फिर पोथी लेके बैठो, और दिन भर का पढ़ा लिखा बिचारो, और इस बात का सदैव ध्यान रक्खो कि जो बात कहना और जो बात करना, उसको दिल जान से लगकर पूरा करना, नहीं तो उस बात को करना ही नहीं और न कहना ही।

निदान जब सोने जाओ पहिले ईश्वर का ध्यान करलो, और प्रार्थना करके सो रहो।

(क्रमशः)



अन्योक्ति प्रबन्ध

(१)

जयति "ईश" सुखधाम
तुव रचना बचनावली।
लखि जिय होत अराम,
रस मय भासत अखिल जग॥

(२)

मधुर पियूष प्रति पोषित सरस सोंधे,
सौरभ मरन्द भार छकि छकि झूले हौ।
बिकसे प्रफुल्लित प्रसून पद्म यूथनि मैं,
बसि कै बिताय वैस ऐसे अनुकूले हौ॥
नेकतो बताउ कौन लाभ लगि डोलै "ईश'
श्याम रंग पाइ इतराइ कित फूले हौ।
सेवती को सेवन विहाय मालती को तजि,
कौन बन बेलिपै भ्रमर आज भूले हौ॥

(३)

फूले सरोजनि तैं सरसात,
परागन तैं लै सुगन्धि हिलोरैं॥
नीरन में बसि यौवन वैस,
व्यतीत कियो धँसि मान सरोरैं॥
तुच्छ जलाशय मैं दिन गोवत,
भेंकी समूह ररैं चहुँ ओरैं॥
सो केहि हेतु अहो कलहंस,
जरा फँसि क्यों एहि सेवत कोरैं॥

(४)

सोंहत तोहिं नहीं यह किंशुक,
आवत तोढिग जोपै मलिन्दन॥
भूलि सबै गुनमान करै,
कहा जानत आपने को मति मन्दन॥

पोषे पियूष प्रस्वेदन तैं,
मन मोद विधायक मान मरिन्दन ॥
मान्य महा हैं मनोभव के,
रस मंजु दै पूजैं जिन्हैं अरविन्दन ॥

(५)

मार के आयुध सी बिलसैं,
सु निकाई मई मृदुता मद भीजै ॥
सुन्दरता सुकुमारता चारु,
मनोहरता लखिकै जेहि छीजै ॥
"ईशजू" सीरी समीर लगे,
थहरै हहा हेरि हरैं रस लीजै ॥
मंजुल मञ्जरी पै हो मलिन्द,
विचारि कै भार सँभारिकै दीजै ॥

(६)

कुमुदिनि खेद करै कहा,
देखि बकनके बृन्द ॥
तव पराग रस छकित जग,
जौ लौं जियत मलिन्द ॥
जौ लौं जियत मलिन्द,
मर्म तुवजाननि हारे ॥
तन मन दै सर्वस्व,
मान तुव राखनहारे ॥
यदपि अवज्ञां होत,
तदपि चित चिन्तित व्है जनि ॥
अन जाने अपमान भये,
का सोचति कुमिदिनि ? ॥

(७)

तौलों कोकिल बसि विपिन,
दिवस कीजिये अन्त ॥
जौलौं भ्रमर रसाल युत,
आवत नहिं ऋतु कन्त ॥
आवत नहिं ऋतु कन्त,
अन्त करि बिरस दिनन को ॥
यापन कीजिय समय,
कोउ बिधि त्यागि सदन को ॥
ऐहैं फिरि वे द्योस,
धीर धारिय जिय तौलौं ॥
रति पति सहित उमाहि,
चढ़त नहिं ऋतु पति जौलों ॥

(८)

अहो मलयज धन्य हौ तुम,
सहज प्रकृति उदार ॥
कथन को करि सकै तव,
मानस महान बिचार ॥
वमत विष तुअ अंगपै,
बहुबार जौन भुअंग ॥
ताहि पोषत सरस दै,
सौरभ सुगन्धि तरंग ॥
अहो तुव पद्धति गहन
कौ कौन होय समर्थ ॥
संग अपकारीन के,
उपकार करत तदर्थ ॥
जौन तों कंह घिसत बहु,
विधि पिसत तासों तुष्टि ॥
सरस परिमल धूरितैं,
तेहि करत तुरतहिं पुष्टि ॥९॥

(क्रमशः)

चौधरी लक्ष्मीनारायण सिंह काशी

--:०:--

घूँघट

यदि सुन्दरता के विषय में आपको किसी को प्यार करने की इच्छा हो तो घूँघट को प्यार करिये। इस लोक में रहकर यदि स्वर्ग का सुख भोगने की इच्छा होय तो घूँघट का अनादर भूलके भी न करना। ज्येष्ठ के निष्ठुर धूप में, सावन के प्रबलधारा में, पूसके दारुण जाड़ें में जब चित्त व्याकुल हो, और उस समय यदि शान्ति भोग करने की इच्छा हो, तो पवित्र चक्षु से घूंघट के ओर देखना; दरिद्रता में, भग्न मनोरथ में, निराशा में, एवं विडम्बना में घूँघट ही चित्त स्थिर करने वाला है। व्यथित प्राण को शीतल करने के लिये भी घूंघट ही है। घूँघट को कुदृष्टि से कभी न देखना किन्तु पवित्र दृष्टि से घूँघट की पूजा करना।

देखो, सुकोमल हरित पत्तियों के भीतर मुँह छिपाकर नव कुसुमकलिकाएँ कैसी शोभायमान हैं, मेघावली के पट में छिपे हुए चन्द्रमाका मधुर प्रकाशमय हास्य कैसा शोभाप्रद है, कुसुम समूह के साथ माधवीलता के स्फुट चन्द्र प्रकाश में समीरणका सञ्चरण क्या ही मनोहरता का विकाश करता है इसी भांति चिन्तामय प्रकाश में कवि की मूर्ति कैसी चित्ताकर्षक होती है, और घूंघट के ओट में सारा संसार का सौन्दर्यपुञ्ज अतुलनीय जो रमणीमुखचन्द्र है उसकी अपूर्व शोभा कैसी है? पृथ्वीमात्र के भाषा में ऐसा कोई शब्द नहीं है, और मानव में ऐसी कोई सर्व भेदिनी प्रतिभा नहीं है, कि मैं दृष्टान्त देकर आपको समझा सकूँ अथवा लिख सकूं, यह शोभा केवल मात्र देखने की और अनुभव करने की है, परन्तु दिखाने या समझाने की नहीं है।

प्रभात में या संध्या में कुछ भी खुला हुआ घूंघट के ओट में एक निष्कलङ्क मुखचन्द्र जिसने देखा, उसको ज्ञात हुआ कि यह जगत बड़ा पुण्यमय है। जिसने घूंघट के भीतर का दोनों विशाल चक्षु देखा. उसका चक्षु उनके ऊपर वहीं संस्थापित हो जाता है, और वह वहीं उसमें फँस जाता है। शय्या से उठकर जिसने प्रभात में एक हँसता हुआ मुख देखा, हठात् उनके चक्षु से चक्षु मिल जाने पर लज्जावनत होकर वह मुख जब घूंघट खींचकर उसके ओट में हो जाता है, तो उस समय उस मनुष्य को स्वर्ग-ज्ञान प्राप्त होता है। जिन्होंने घूंघट के अन्तर मुंह ले जाकर लज्जावनत हास्य मुख देखा है, वे मुहूर्त मात्र में संसार को भूल जाते हैं, जिस किसी ने लज्जावती के मुख कमल से घूंघट को हटा देने का प्रयास पाया, उसने समझा, कि जगत की कविता यही है। जयदेव लिखित "कोकिल कूजित कुञ्ज कुटीरे" अथवा तमसा के साथ पञ्चवटी वन में राम और जानकी के बातचीत सुनने में भी इतनी कविता नहीं दिखाई पड़ती है, किन्तु घूंघट इतना मधुर और सुन्दर क्यों है? जो मुखमंडल, देखने से संसार

में स्वर्गीय सुख प्राप्त होता है, घूंघट ने दिन रात उसको अपने पट में छिपा कर रक्खा है। जो चक्षुद्वय जितना ही देखो उतना ही नया, मुहूर्त. क्षणक्षण, में नया जोकि कुहकदुरितपूर्ण संसार में पवित्रता की शिक्षा देता है, वह सदैव घूंघट के अन्तर छिपा हुआ है, चन्द्रमुख की जो हँसी देखने से संसार में अनन्त सुख प्राप्त होता है वह हँसी पूर्णतः देखने की इच्छा करने पर भी सदैव नहीं मिलती घूंघट उसको छिपा लेता है, देखो इस प्रकार घूंघट शत्रुता करता है। किन्तु तिसपर भी वही सुन्दर है।

(क्रमशः)

--o:o:o--

मनोरञ्जन

एक दिन लैला दान करती थी, मजनू भी दान प्रार्थियों में जा मिला! लैला ने सबको दिया, मजनू की ओर आँख उठा कर भी न देखा, जब वह घर चली गई, तो मजनू आनन्द पुलकित हो नृत्य करने लगा।

लोगों ने पूछा "तुम्हें क्या मिला? नाचते क्यों हो?"

वह बोला—"उसने इतना तो जान लिया कि मजनू मैं ही हूँ।"

:o:

काशी

आज कल गंगा जी बड़े वेग से बढ़ रही हैं। गत मास वृष्टि भी अच्छी ही हुई। नगर की शोभा अति रमणीक है

भारत सरकार का दान—यह बड़े ही हर्ष की बात है, कि स्थानीय नागरी प्रचारिणी सभा जो हिन्दी की कोष बनवा रही है. उसके सहायतार्थ भारत सरकार ने तीन सहस्त्र मुद्रा का दान स्वीकार किया है।

:o:

इन्दु! सचित्र—इन्दु! को उत्तमोत्तम प्रबन्ध तथा कविता आदि के अतिरिक्त विशेष रूप में, और सचित्र करने का प्रबन्ध किया जा रहा है, आशा है कि इन्दु! अपने प्रेमी पाठकों की सेवा में शीघ्र ही विशेष रूप में सचित्र हो कर पहुँचेगा।

-:o:-

मछुओं का बहिष्कार

आज कल यहां के बंगालियों ने मछुओं का बहिष्करण कर दिया है, अर्थात् कोई बंगाली मछुए के हाथ से मछली नहीं खरीदता है। इस बात के विषय में नाना प्रकार की बातें नगर में उड़ रही हैं, पर जहां तक निश्चय जाना गया है, बात यह है—एक दिन की बात है कि एक बंगाली दशाश्वमेध की सट्टी में मछली खरीदने गया और मछुए ने उसके हाथ रोहू मछली बहुत महंगे दाम पर बेंची और वह मछली कुछ सड़ी भी थी, पुन: जब वह लेकर चला गया तो दूसरा आया और उसके हाथ उसी मछुए ने पहिले की निस्बत अच्छी मछली और कुछ सस्ते दाम पर दिया। अकस्मात् दोनों बंगालियों की भेंट हुई और मछली पर बात चली और भेद खुला। दोनों बंगाली उस मछुए के पास गये और पहिले ने उससे कहा कि तुमने अभी इस बाबू को इस दाम पर मछली दी और मुझे इस दाम पर, और फिर देखो मेरा मछली भी कुछ खराब है सो इसे फेर लो मैं न लूंगा। मछुआ इस पर राजी न हुआ उसने फेरा नहीं वरन कुछ दुर्वचन का प्रयोग किया और उस बंगाली को दुर्दुरा दिया। कहते हैं कि वह बंगाली बंगालियों का पुरोहित है। उसने अपने समस्त यजमानों के यहां जो जाकर गुहार मचायी, सब बंगालियों ने यह समर्थन किया कि यह बात बिल्कुल ठीक है कि मछुए हम लोगों के हाथ गली सड़ी बासी मछली बड़े दाम पर बेंचते हैं, और दूसरों के हाथ अच्छी और सस्ते दाम पर बेचते हैं इसलिये इन मछुओं का त्याग करना उचित है। उन लोगों ने यह भी हिसाब लगाया कि मछुए एक रुपये में साढ़े छ: सेर की रोहू मछली अच्छे लाते और हमारे हाथ बारह आने सेर के हिसाब से बेंचते हैं। सब बंगालियों ने एका कर मछुओं से मछली का लेना एक दम बन्द कर दिया।

दूसरे दिन मछुओं की मछली जैसी की तैसी पड़ी रह गयी किसी बंगाली ने कुछ भी न खरीदी। बंगालियों ने पहरा भी मुकर्रर कर दिया था कि कदाचित् भ्रम वश कोई आ जावे और ले लेंवे तो उसको रोकना, दैवात् ऐसा हुआ भी एक बंगाली जो इस व्यापार से अनभिज्ञ था आ ही तो गया, और जब वह खरीदकर चला तब दूसरे बंगालियों ने उससे सारा हाल कहकर फेर देने का अनुरोध किया किन्तु मछुवा न फेरे, इस सबब से वह मछली सड़क पर फेंककर कुचल दियी गयी और उस बंगाली को पैसे दे दी गये। इस प्रकार बंगालियों ने मछुओं का बहिष्कार कर दिया।

अब तो मछली बिकती नहीं, बंगाली आते नहीं, मछुओं को बड़ी चिन्ता हुई। दशाश्वमेध की सट्टी के ठीकेदार बबुआ

पाण्डे हैं, उनको भी चिन्ता हुई कि अब तो कठिन हुआ चाहता है, बखेड़ा भारी हो चला। सो उन्होंने प्रधान २ बंगालियों की एक सभा कियी। उस सभा में कुछ मुसलमान भी उपस्थित हुए थे उन्होंने भी मछुओं के अत्याचार की बात का समर्थन किया। खैर बबुआ पाण्डे के अनुरोध से यह ठीक किया गया कि किसी प्रकार यह मामला तय कर लेना चाहिये। बंगालियों ने दर मुकर्रर कर दिया कि बड़ी रोहू उत्तम श्रेणी की चार आने सेर, और उससे उतर कर तीन आने सेर, और ज्यों ज्यों उतरता जाय मूल्य भी घटता जाय अर्थात् दो आने और एक आना सेर का हिसाब ठीक रहे। मछुओं को यह बात पसन्द न आयी वे पांच आने सेर पर बेचने के लिये राजी हैं, किन्तु बंगाली इस पर सम्मत न हुए।

बंगालियों में से कुछ लोगों ने यह व्यवसाय अपने ऊपर ले लिया है। जिन २ स्थानों से मछली आती है वहाँ वहाँ जा जा अगता रुपया देकर मछली एकबारगी खरीद लेते हैं और बंगाली टोले में दूकानें भी खुल गयी हैं, उन दूकानों में वे मछली वेचते हैं। ऐसा कहते हैं कि बंगालियों ने अपने अध्यवसाय से एक दिन छः मन मछली जमाकर लियी, जो बात की बात में बिक गयी। अब बंगाली अपना स्वतन्त्र प्रवन्ध कर रहे हैं, और मछुओं का त्याग ही कर दिया है।

मछुओं से खरीदने वाले को किसी प्रकार का आर्डर दिया जाय, इस कारण सुनते हैं सट्टी पर पुलीस का पहरा है परन्तु किसी प्रकार की गड़बड़ी अभी तक सुनी नहीं गई है। बंगाली स्वतन्त्र रूप से खरीद लाते हैं और बेचते और मछुए सट्टी में बेचते परन्तु मछुओं की अब वह बिक्री कहां! बंगालियों ने चन्दा कर बहुत सा रुपया जमा कर लिया है, उसीसे यह व्यवसाय चलेगा।

बंगालियों ने इस व्यवसाय से एक जातीय उपकार भी साधन किया है, कि जो यह है, कि जो कोई विधवा अथवा अनाथ एक रुपया भी इस चन्दे में जमाकर देवे, उसे इस व्यवसाय की आमदनी से प्रति मास तीन रुपया मिला करें। सो यह देखा जाता है, उनका यह व्यवसाय, दीन हीनों के प्रति-पालन के लिये भी हुआ है, इससे उपकार भी है। अब देखा चाहिये यह खीचा खींची कितने दिन चलता है किन्तु लक्षण तो ऐसे दीख पड़ते हैं कि बंगाली अपने मन्तव्य पर स्थिर रहकर इस नियम का पालन कर ले जावेगें।

(भा० जी०)

समाचार

हिन्दी का सौभाग्य—जापान निवासियों ने हिन्दी भाषा की सरलता और देवनागराक्षरों की सुन्दरता और पूर्णता भली भाँति समझ बूझ कर जापान के टोकियो नामक नगर में हिन्दी का एक हाईस्कूल खोला है। पढ़ाने वाले वही लोग हैं जो कि हिन्दुस्तान से कोई विद्या सीखने के लिये जापान गये हैं। धन्य जापान, धन्य हिन्दी।

—०—

गायकवाड़ का व्यापार प्रेम—श्रीमान् महाराजा साहब बरौदाने, बाहर से आने वाले उस माल पर कर लेना विल्कुल बन्द कर दिया है, जिससे वहां के व्यापार की उन्नति हो सकती है, और बहुत से बाहर जाने वाले माल पर भी इसी कारण से महसूल छोड़ दिया है, इस प्रबन्ध से श्रीमान् को साढ़े पाँच लक्ष रुपयों की आय होती थी, परन्तु श्रीमान् ने उसका कुछ भी सङ्कोच न किया। ठीक है देशहितैषी गण रुपयों का मुँह नहीं देखते।

—०—

नया कारखाना—प्रयाग में "प्रयाग सुगर वर्क्स" नामक चीनी का नया कारखाना खुला है।

०:○:०:○:०

(ॐ इन्दु शेखरायनमः)

'इन्दु'

मासिक पत्रिका

सज्जन चित्त चकोरन को, हुलसावन भावनपूरो अनिन्दु है ।
मोहन काव्य के प्रेमिन के हित सांच सुधारसको वलिविन्दु है ।।
ज्ञान प्रकाश प्रसारि हिये बिच, ऐसो जो मूरखता तमभिन्दु है ।
काव्य महोदधिते प्रकट्यो, रस रीति कला युत पूरण "इन्दु!" है ।।

कला १ | आश्विन | किरण ३

शारदीय शोभा

प्रभात

१—विलसत मधुर समीर श्वास,
माँनहु प्रभात को सीरो ।
कलरव मधुर विहङ्ग सङ्ग,
परि मुदित करत चित धीरो ।।

२—औरहु मधुर दिवाकर,
करहिं पसारत जब निज सुन्दर ।
अलिकुल मिलित सरोरुह,
गनको पीत करत सुमनोहर ।।

३—जलकण भूषित शस्य श्यामला,
धरनी तरु फल पूरो ।
सुमन सौरभित शिखर,
बनाली, जल लहरी पर सीरो ।।

रजनी

४—औरहु सुन्दर अति लखात,
आगमन सुसन्ध्या केरो ।
तापर शान्त विहङ्गम सङ्ग,
मनोहर रजनी हेरो ।।

५—इन्दुकुला परिवेष्टित,
तारा निकर व्योम मुक्ता सम।
पै वा रजनी राज्य माँहि,
नहिं वायु प्रभात मनोरम ॥

६—नाहिं विहङ्गम कलरव,
नाहिं सुवालदिवाकर किरनैं।
नहि अरविन्दविकास सहित,
नव ओस कणा की झरनैं ॥

७—ये मिलि करत अराम संग,
ये सब सहचर है नाहीं।
चन्द्रकला शोभत अपने सों,
या शुचि रजनी माँहीं ॥

चन्द्र

८—निसि फैलि रही निसिनाथ कला।
किरणावलि कान्तिलसै अमला ॥
विलसै चहुँ ओर लखात झला।
निधि छीर मनो विहरै कमला ॥

९—अमला किरणा-वलि पूरससी।
सुरनारि कपोल कला हुलसी ॥
बिलसै रतनाकर अम्बर में।
"रतनेस" न जासु बराबर में ॥

कमला जल केलिहि हेतु रसे।
उडुराजि किधौं नलिनीगन मे ॥
शुचि व्योम सरोवर के जल में।
शशि कै मुख कंज विकासन में ॥

११—सुमहोत्पल है कि मयंककला।
यह वारिधि कै शुचिव्योम झला ॥
यह चारु पराग मरन्द सनो।
वरसैकि जुन्हाइ सुचन्द मनो ॥

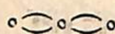
कमलिनी

१२—निज कान्त प्रकाश लखे नलिनी।
बिखरावत चारु पराग कनी ॥
मनु पाइ पियै अति आनन्द सों।
यह दान लुटावत वेहद सों ॥

भ्रमर

१३—मधुपावलि गूँजत मौज भरे।
लहि वायु प्रसंग भरी लहरैं ॥
ठहरै स्वर पूरि उठै श्रवनै।
जेहि सों चित आनँद माँहि सनै ॥

जयशंकर प्रसाद, काशी



धर्म और नीति

वर्तमान समय के लोगों का बिचार है, कि "धर्म्म" और "नीति" इन दोनों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। और ऐसा विचार केवल भारत के नवशिक्षित सभ्य समाजहीका नहीं है, बरन यहां के पण्डित भी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं, और यह सिद्धान्त यूरप देशीय नीति वेत्ताओं का तो मूल मन्त्र ही है।

इस समय वे जो कुछ राजनैतिक वा सामाजिक कार्य्य करते हैं, वे सब इसी सिद्धान्त के आधार पर होते हैं। देशदेशान्तरों में जो पादरी दल बिचरते हैं, वे केवल इसी हेतु नहीं है कि जिससे इसाई

मतका प्रस्तार हो, वरन वे दल यूरोपियन राज्यों के नीति के प्रबल सहायक हैं, इसी से यूरोपीयराज पादरीदलों की आर्थिक सहायता और प्रतिष्ठा करते हैं। तत्पर्य्य यह है कि वर्त्तमान सभ्यदेशों के बुद्धिमान लोग "नीति" को ही मुख्य मानकर "धर्म्म" को एक व्यवहार सम्बन्धी योग क्रिया मानते हैं। यही सिद्धान्त उनकी दीक्षा से शिक्षित भारतवर्ष की नवीन समाज का है। परन्तु भारतवर्ष के वे लोग जो कि धर्म्म ही को अपना जीवनाऽधार मानते हैं, वे नीति के तत्वों को जानते ही नहीं। इस हेतु उनका अमूल्यरत्न धर्म्म ही उनके गले का कंटक होकर उन्हें उन्नति से रोकता है।

बहुतेरे लोगों का तो यह सिद्धान्त है कि जो पुरुष नीतज्ञ हैं, वह धर्म्मज्ञ हो ही नहीं सकते, एवं जो नीतज्ञ हैं वह धार्म्मिक मर्य्यादा से सहस्त्रों कोस दूर हैं, और वास्तव में उनका यह अनुमान करना उचित भी है, क्योंकि इस समय सर्वत्र ऐसे ही लोगों की सृष्टि अधिक है।

अस्तु जो हो, इस विषय में अब हम भिन्न २ मतों पर तर्क वितर्क न करके अपने सिद्धान्त को प्रकाशित करते हैं।

हमारे विचार से तो धर्म्म और नीति में परस्पर ऐसा निकट सम्बन्ध है, जैसा कि अग्नि और वायु में। जैसे वायु बिना अग्नि कदापि नहीं रह सक्ता, वैसे ही नीति के बिना धर्म्म का निर्वाह भी कदापि नहीं हो सक्ता, इसका पुष्ट प्रमाण यही है, कि कट्टर धर्मज्ञ परन्तु नीति रहित भारतवर्ष दिन २ पतित होता जाता है।

"धर्म्म" शब्द संस्कृत के "धृ"धातु से बना हुआ है, जिसका अर्थ धारण करना है, इस हेतु मनुष्य जन्म से लेकर मरण पर्य्यन्त जिन २ कर्म्मों को धारण करता है, वे सब उसके धर्म्म कहे जा सकते हैं।

परन्तु ऐसा नियम नहीं है, मानव जीवन सम्बन्धी समस्त कर्म धर्म्म और अधर्म्म दो भागों में विभाजित है। धर्म्म तो उन्हें कहते हैं जो धारण करने योग्य हैं, और अधर्म्म का उन सब कर्मों से अभिप्राय है जिनसे वर्त्तमान और भविष्य दोनों में निन्दा होने की आशंका हो। अस्तु इस धर्म्म और अधर्म्म की ठीक २ पहिचान करने वाली वस्तु का नाम नीति है। किस समय किस धर्म्म का धारण करना श्रेयष्कर है यह भी नीति के सहायता बिना नहीं जाना जा सकता। समय की उचित व्यवस्था का ज्ञान, एकमात्र नीति पर निर्भर है। इसी से नीति विहित पुरुष धर्म्मज्ञ साहसी और सदाचारी होने पर भी संसार में दीन हीन बनकर जीवन व्यतीत करते हैं, और यह बिचार हमारी कल्पना नहीं हैं, वरन नीति शब्द का मूल अर्थ ही इस सिद्धान्त का प्रतिपादक है।

"नीति" शब्द संस्कृतके "नी"धातु से बना हुआ है, जिसका अर्थ ले चलना है, "नेता"और "नीता" आदि शब्द भी इसी धातु से उत्पन्न हैं। नेता शब्द का अर्थ है ले चलने वाला, नींता शब्द का अर्थ है वह वस्तु जोकि लेचली जाय, और नीति शब्द

के अर्थ से, उस क्रिया से अभिप्राय है जो कि अमुक वस्तु लेचलने के लिये प्रयोग की जाय। यहां सृष्टि क्रम से 'प्राकृतिक नियम, तो कारण अर्थात हेतु स्वरूप है उनको धारण करने का जो कर्म्म है, उसे धर्म कहते हैं, और धर्म्मको धारण करने के लिये जो समयोचित सूक्ष्म क्रियाओं का प्रयोग किया जाता है, उन के समूह का नाम नीति है जैसे आहार करना, शरीर का धर्म्म है, परन्तु दिन में तीनबार भोजन करना, अमुकऋतु में अमुक २ पदार्थ भोजन करना यह सब बिचार नीति के आधीन है। स्नान करना धर्म्म है, परन्तु शीतकाल में गर्म जल, और वसंत ऋतु में शीतल जल का प्रयोग करना, यह नीति बुद्धि ही बतलाती है।

जिस प्रकार "धर्म्म"आपत्ति, गृहस्थ, और राज्य, तीन श्रेणियों में विभाजित है, उसी प्रकार उसकी सहधर्मणी "नीति" के भी तीन प्रकार हैं। परन्तु आपत्ति नीति और गृहस्थ नीति, आपत्ति धर्म्म के साथ ऐसी मिश्रित है कि उसका कोई भी अंग पृथक नहीं जान पड़ता। आपत्ति धर्म्म की मुख्य नीति सहन शीलता और धैर्य्य है, गृहस्थ धर्म्म की नीति का अवलम्ब गुरु आज्ञा, और राजाज्ञा का पालन करना है। परन्तु एक राज्य धर्म्म ही ऐसा स्वतंत्र विषय है, कि जिसके आचरण की सहायता के लिये नीति को पृथक स्वरूप धारण करना पड़ा। राजा के हाथ में अगणित मनुष्यों के जन, धन, प्राण, और मान की मर्यादा होती है। इस हेतु राजा को अधिक नीतज्ञ होना, आवश्यक है। इसी हेतु राजनीति का एक शास्त्र ही पृथक तय्यार हो गया, और उसी शास्त्र का नाम इतिहास ! है।

इतिहास हमें इस बातका ज्ञान कराता है कि गत समय में किस राजा या समाज विशेष ने किस समय पर किस भांति का आश्रय लेकर कौन २ कार्य्य किये और उनका परिणाम क्या हुआ, अस्तु इतना जानकर हम इस बात की उचित व्यवस्था कर सकते हैं कि यह समय कैसा है, और अब हम किस नीति का आश्रय लें, कि हमारे जातीय धर्म्म का गौरव भी नष्ट न हो, और हमारा मनोवांच्छित कार्य्य का भी साधन हो*।

---

* यह लेख श्रीयुत पं० केदारनाथ पाठक द्वारा प्राप्त हुआ है, परन्तु मूल कापी में लेखक का नाम न होने के कारण हम लेखक महाशय का नाम प्रकाश करने में असमर्थ हैं।

(गतांक से आगे)

अन्योक्ति प्रबन्ध

गहब गुलाब है न मंजु पारिजात वृन्द,
कुन्दन कुमोदिनी न जाके रस झूले हौ ।।
सेवती को सौरभ प्रगट पै नहीं है यह ।
मालती के माल तीके गन्ध समतूले हौ ।।
पंकज प्रफुल्लित मैं बारि लहरात लखि ।
ऐसो विपरीत "ईश" कैसे अनुकूल हौ ।।
ह्वै हैं सम्पुटित नेक वेरना लगैगी इन्है,
कौन गुन मानि कै भ्रमर आज भूले हो १०।।

अमल अम्बर मध्य अनुपम,
उदित इन्हिं चाहि ।।
लोल लोचन खोलि चहकि,
चकोरि पेखत जाहि ।।
मानिनी निज मान गोवति,
जासु तेज निहारि ।।
जगत रसपागे सरस पीयूष,
विषय बिचारि ।।११।।
खिली चहुँ दिशि कमलिनी,
प्रियजासु आगम चाह ।।
भुवन मोहन ज्या सुसज्जित,
करत निज रतिनाँह ।।
तुमहिं उचित न दैव ऐसो,
करव जानि बिचारि ।।
ताहि गोपन करत क्यों,
बहुघन सघन पटडारि ।।१२।।

अहो बिकसित कंज मंजु,
पराग लै तुव भौंर ।।
द्योस निसि गुञ्जरत तुव ढिग,
जात नहिं कोउ ठौर ।।
तदपि तव यह बन्धु वायु,
विलोकि तव यशगौर ।।
बहन करत सुगन्धि ह्वै,
निरपेक्ष दिशि दिशि दौर ।।१३।।
ह्वै अपेक्षित भ्रमर निज,
स्वारथ बिचारि सरोज ।।
भ्रमत निशिदिन पार्श्व में,
गुनगन सराहत रोज ।।
वायु सौरभ ग्रहण की,
अभिलाष राखत नाँहि ।।
भ्रमण करि दिशि विदिशि,
तव यश प्रगट करत उमाहि ।।१४।।

मधुर मधु करि पान सौरभ,
लहर मैं लहराय ।।
सरस प्रफुलित जलज जूहनि
मध्य वैस विताय ।।
कौन लाभ बिचारि भ्रमर,
बिहाय कै थल तौन ।।
बिरचि नेह नवीन अब इत,
भयो किंशुक रौन ।।१५।।

सरस सौरभ लांभ राखत,
यथा भौंरन संग ।।
तथा भूलि न कीजियो हे,
पद्म पौन प्रसंग ।।
जगत हित ये देत निजवर,
हृदय याचक पाय ।।
करत प्रमुदित सबहिं मन्द,
सुगन्धि को सर साय ।।१।।

(क्रमशः)

—चौधरी लक्ष्मी नारायण सिंह, काशी

प्रतिहिंसा

हम लोग आजकल प्रत्येक प्रकार से ज्ञान हीन बने हुए हैं, यदि बिचारपूर्वक देखा जाय, तो हम लोगों के त्रिकालज्ञ दूरदर्शी आर्य्य पुरुषों के किये हुए कोई भी विषय हम लोगों में नहीं पाये जाते। हमारे पूर्व जन! जिनमें कि द्वेषता! एवं प्रतिहिंसा! का लेश मात्र नहीं था, और जो सदैव "एकमत" होकर आनन्द पूर्वक सर्व कार्य्यं करते थे, उन्हीं महान पुरुषों के वंशज हो कर हम लोगों में, अब, पथ पथ पर द्वेष, और प्रतिहिंसा, की बृति, बल पूर्वक बढ़ती जा रही है।

यदि किसी ने थप्पड़ मारा, तो मेरी भी मारने की इच्छा होती है, किसी भाँति न मार सके, तो उस समय गाली देने से भी हृदय की ज्वाला ठंढी न होगी। किसी ने कोई दुर्बचन कहा, तो उत्तर में हम उससे भी विशेष दुर्वचन कहने को कटिवद्ध होंगे। मार्ग में यदि दैवात् किसी से धक्का लग गया, तो हम सर्प की भाँति उसको फुफुकारते हुए दंशन करते हैं, और अपनी दु:ख रूपी विष उसके जीवन प्रवाह (नाड़ी) में डाल देते हैं।

जाना नहीं जाता कि इस जीवन में प्रतिहिंसा, एवं क्रोध, वश होकर कितने कोमल हृदयों पर व्याघात किया है।

कई बार बिचारा कि प्रतिहिंसा एवं क्रोध को हम एक बार ही त्याग दें, क्रोध का सम्पूर्ण भावसे दमन करें, परन्तु कर नहीं सकते।

जिसको प्राण से भी अधिक समझते हैं, और जो उसी भांति प्राण से भी अधिक मुझे समझता है वह मुझको यदि कुछ कहे, और उसमें से एक भी असङ्गत वार्ता हुई, वा उस व्यक्ति ने कोई असहिष्णुता दिखाया, तो हम उस से सौगुणा कुटिलता दिखाने को तत्पर हो जाते हैं। जिसने मरण पर्यंत भी हमको कोई कटु बाक्य नहीं कहा, जिसने हमारे अनेकानेक यन्त्रणा तथा बारम्बार कष्ट देने पर भी कभी हमको कर्कश शब्द द्वारा कोई बात नहीं कहता, जो हमको एक विन्दु सुख देने के निमित्त, अपने ऊपर समुद्र के समान दुख लेने के लिये भी सहस्त्रों बार प्रस्तुत है; हम ऐसे अधम हो रहे हैं, कि यदि वह भी किसी दिन किसी रीति हमारी अवज्ञा करें, अथवा किसी कार्य में चूक जायँ, एवं न समझ कर हमको कोई व्याघात पहुंचावें, तो हम शीघ्र ही उनके सब बातों को भूल, क्रोधान्ध हो कुवचन रूपी तीक्ष्ण छुरी उनके बक्षस्थल में भोंक देते हैं।

उनका कोमल प्राण इस विषम यन्त्रणा से छटपटाने लगता है। रात्रि को शयन करने के समय निद्राहीन नेत्रों द्वारा अश्रुजल से सारी शय्या तर हो जाती है, किन्तु फिर भी हमारा कुव्यवहार उनके हृदय में स्थान नहीं पाता।

जिसको इतना प्यार करते हैं, क्रोधाबेश में पड़ उसको दु:ख देकर कितना कष्ट

पाते हैं ? जिसको दुर्वचन कहकर रुलाया है। तिसके अनुपस्थिति में, दिन अथवा रात्रि को विश्राम करने के समय, नेत्र बंद करने पर हम उसका अश्रु सिक्त आनन स्नेहप्रार्थी 'चक्षु' और भीति कम्पित ओष्ठ मानस नेत्र द्वारा देखते हैं, तो उस समय अनुताप से हृदय दग्ध हो जाता है, उस समय उसके पद तल में माथा रख के केवल रोने ही की इच्छा होती है।

इस बार इतने अनुताप से हृदय दग्ध हुआ, परन्तु तथापि हृदय विशुद्ध नहीं हुआ, और न मलिनता ही दूर हुई, तब भी क्रोध के हाथ से छूटने में समर्थ न हो सके।

जिसको भली भाँति प्यार करते हैं, जबकि उसी के प्रति क्रोध सम्बरण न कर सके ! जब कि आहत होने पर भी प्रतिकारार्थ प्रतिद्वंदी के प्राण को आघात न देने पर हृदय शीतल नहीं होता ? तो भला जिसको हम कुछ भी प्यार नहीं करते हैं, उसके प्रति क्रोध किस भाँति सम्बरण कर सकेंगे ? तिस्के प्रति प्रतिहिंसा करने की चेष्टा किस भांति निवारण की जा सकती है ?

क्रोध ! और प्रतिहिंसा ! पशु की प्रवृत्ति है, पाशविक आचार तथा नर्क का मार्ग है, सर्वथा मनुष्यों के पक्ष में घोर कलङ्क है, सर्व अवस्था में धर्म्म का अनादर करना है, सब समय अवनति ही का प्रशस्त पथ दिलाता है।

हा ! हम लोगों का मनुष्यत्व कहाँ है यदि हम लोग द्वेष ! तथा प्रतिहिंसा ! के दास बने ही रहे, तो शिक्षा का फल क्या हुआ ? तथा आदि महर्षियों के जीवन चरित्र से हमें क्या यही शिक्षा मिली ?

नहीं ! कदापि नहीं ! अब हम लोगों को अवश्य अपने महान, आर्यों के मतानुसार ही चलना चाहिए, और प्रेम सहित सदैव "ऐक्यता" को अपने में स्थान देना चाहिये, अद्यावधि जो प्रतिहिंसा के दास बने रहे सो हो चुका, अब इस बात का दृढ़ता पूर्बक प्रण करना चाहिये कि—

"प्रतिहिंसा ! एक बार भी न करेंगे, द्वेष किसी काल में भी न करैंगे"

"किसी काल में भी न करैंगे ?"

"हां किसी काल में भी नहीं।"*



* इस प्रबन्ध में श्रीयुक्त श्री ज्ञानेन्द्रलाल एम० ए० बी० एल० द्वारा लिखित "प्रतिकार प्रतिहिंसा न हे" नामक (बंगला) लेख से अधिकांश सहायता ली गई है।

आदर्श कुमारी

(गतांक से आगे)

हे लड़कियों ! देखो अब तुम स्यानी होगी, कुछ ही दिनों में घर बार वाली भी हो जावोगी, अतएव तुम्हें विद्या तथा कुछ गुण भी सीखना चाहिए जो तुम्हारे काम आवे। सबसे पहिले तुम सावधान और स्थिर होकर बैठना सीखो, इतराना और चंचलता छोड़ो बड़ों का डर और कहा मानो, अपना हठ कभी न करो, हठ करने वाली लड़कियां पीछे बहुत पछिताती हैं।

सदा सच बोलो, सच बोलने से बड़ाई मिलती है, मान बढ़ती है, ईश्वर प्रसन्न होता है, माता पिता के अतिरिक्त और सब लोग भी प्यार करते हैं और धर्म्म भी सुधरता है, सत्य से योग, भोग, श्री, वायु, अग्नि एवं जल, तथा पृथ्वी, आदि सबकी स्थिति है।

झूठ भूल के भी न बोलो, कोई अपराध भी हो जाय तो न छिपाओ, साफ़ बता दो, और क्षमा मांगो, झूठ बोलने से विश्वास जाता रहता है, सच्ची बात का भी कोई विश्वास नहीं करता, माता पिता क्रोध करते हैं, परमेश्वर बुरा मानते हैं, और अपने पराये सब निरादर और घृणा करने लगते हैं, अतएव सत्य ग्रहण करो और झूठ को इस भांति अलग फेंको जैसे कि दूध में की मक्खी फेंकी जाती है।

किसी को गाली भी न दो, बुरी बात बोलने से जबान बिगड़ती है और सुनने वाले बुरा कहते हैं, जिसको गाली दोगी यदि उत्तर में वह भी गाली दे तो सारी प्रतिष्ठा मट्टी में मिल जाती है, और यदि मार बैठे तो दुख भी होता है, इस हेतु गाली देना तो बुरा हई है परन्तु किसी से तू तकार भी मत करो, न कोई कड़वी बात कहो, कड़वी बात कहने से मन फट जाता है, और कलेजे में ऐसी चोट लगती है कि जिसकी कोई औषधि ही नहीं है।

अन्धे काने लूल्हे लंगड़े किसी का निरादर मत करो, न दुखी को चिढ़ावो, यहां तक कि कीड़े पतंगे तकको न सतावो, इससे दुख पाकर वह श्राप देते हैं, और ईश्वर भी कोप करता है।

कोई हो सब से मीठा, और धीमे बोलो, झुकके चलो, और अपने चित्त से बढ़कर कभी कोई बात न कहो, मीठा बोलने और झुक कर चलने से सब सराहते, और जी से चाहते हैं। किसी के साथ लड़ाई झगड़ा रखना, वैर विरोध बाँधना, अथवा दूसरे को अच्छा पहने ओढ़े देखके जलना, और उसकी बड़ाई सुनके डाह और ईर्षा करना यह सब बुरे लक्षण हैं, इनसे कलह बढ़ती और अपना-ही चित्त आठो पहर तप्त और दुखी बना रहता है। अतएव कोई कुछ कहे भी तो, तुम चुप हो जावो, १ चुप सहस्त्रों आपत्ति-टालती है, कभी क्रोध न करो, क्योंकि

क्रोध की अग्नि पहिले क्रोध करने वाले को जला देती है, तब दूसरे तक पहुंचती है, इससे हे लड़कियों ! मनको सदा ठंढा और चित्त को प्रसन्न रक्खो, कुढ़ना झुझलाना, और बात २ में नांक भौं चढ़ाना सब छोड़ दो क्योंकि ऐसी बातों से स्वभाव चिड़चिड़हा हो जाता है शरीर पर माँस नहीं चढ़ता, शरीर दुर्बल तथा शिथिल हो जाता है, रोग घेर लेते हैं और आयु घट जांती है, ऐसी लड़की सबके चित्त से उतरी रहती है ।

पीठ पीछे किसीकी निन्दा, करना बड़ा दोष है, और न किसी की चुगली खाना चाहिये, यह भी क्लेश का जड़ और बैर का घर है, इसको बुद्धिमानों ने इतना बुरा कहा है कि उसके सुनने में भी दोष है ।

लालच भी बड़ी बुरी वस्तु है, इससे भी हँसी होती है, मान घटता है, और दुख बढ़ता है, इसलिये कभी किसी की अच्छी वस्तु पर जी न चलावो, जो कुछ परमेश्वर ने अपने घर में रूखा, सूखा, दिया हो उसी पर सन्तोष रक्खो, और परमेश्वर को धन्यवाद देकर उसी को प्रसन्न चित्त होके खाओ ।

अन्न को देखकर कभी मुँह न बिगाड़ो न बुरा कहो, जो कुछ सामने आवै, आदर पूर्वक खाओ, अन्न की निन्दा करने और झटक पटक कर खाने से अवगुण होता है, शरीर नहीं पनपती, और बल घटता है । प्रसन्न चित्त खाने से शरीर पुष्ट और चित्त शान्त रहता है ।

बिना भूख कभी न खाओ, और न भूख से अधिक खाओ, अधिक खाने से आलस्य बढ़ती है, इसके साथ ही लोग हँसते और पेटार्थू कहते हैं ।

पहिरना, ओढ़ना, उठना, बैठना, बोलना, चालना सब ऐसा सँवारो कि कोई फूहड़, लुच्ची, निर्लज्ज, और दुष्टा न कहै कपड़े अपने सँभाल के धरो उठावो, घास की तरह न फेंको, और इस प्रकार पहिनो कि जल्दी न फटे और न मैले हों । गहने और महीन वो किनारी गोटे कपड़ों का चाव न करो साधारण और ऐसे कपड़े पहिनो कि जिनसे सारा शरीर ढका रहे, कोई अंग उघारा न होने पावे ।

सुशीलता के साथ उठो बैठो बड़ों के सामने लेटना, पाँव फैलाना, हाथ पैर नचाना इत्यादि दोष है, बड़ों को जब आते देखो खड़े होजाओ, वह बैठ लें तब एक किनारे हाथ पैर समेट और माथा झुका के बैठ जाओ, वह किसी और से बात करते हों, तो बीच में न बोलो, जब वह तुम से कुछ कहें चित्त लगाके सुनो और आँखें नीची करके मधुरता और नम्रता के साथ उत्तर दो । बिना अवसर कभी न बोलो न बेसमझे बूझे कोई बात मुँह से निकालो, जो कोई कुछ कहे, पहिले अच्छी तरह सोच समझ लो, तब उत्तर दो, चलने फिरने में उछलती कूदती, और हाथ नचाती न चलो, सिर झुका के और सबसे बची हुई धीरे-धीरे चला करो, मार्ग में कहीं खेल तमाशा होता हो तो खड़ी होके कभी न देखो ।

बुरे और खिलक्कड़ लड़के वा लड़कियों के संग कहीं न जाओ, न उनकी संगत में बैठो । सुशील चतुर और हँसमुख

स्वभाव और बराबर वालियों से प्यार बढ़ाओ, और बूढ़ी बुद्धिमान तथा गुणमान स्त्रियों के पास बैठा करो।

माता और पिता की देवता के समान भक्ति सहित सेवा और बन्दना किया करो, अपने पराये जितने बड़े हैं यहाँ तक कि पुराने जो नौकर हों, उनका भी आदर करो, और कहा मानो। अतएव इन सब रीतियों से जब तुम अपना चालचलन सवाँरोगी, और प्रेम सहित विद्याध्ययन करोगी तभी "आदर्श कुमारी" कहला सकोगी।

रामादेवी, काशी

—*—

मानस

१–मानस ! तुम मानससम विमल विशाल
अगिनित बीचि बिलोल मनोहर माल।
२–उठत, चारु मिलि जात करत अतिकेलि
तव तरङ्ग अति मधुर सुधा अवहेलि॥
३–तव पुलिनोपरि बैठि मनुज मनमान।
सुनत अनोखी तव, तरंग की तान॥
४–चिन्ता, हर्ष, विषाद, क्रोध निर्वेद।
लोभ, मोह, आनन्द, आदि बहुभेद॥
५–हैं यह मकर निकर अरु मत्स्य महान।
भरे रतन आशा मुकताकी खान॥
६–चुँगत मौज भरि तेहि कल्पना मराल।
विहरत बहुबिधि'शोच'मरालिनिजाल॥
७–ग्रसत कबहु कल्पनाहि मकर महान।
व्यथित होत यह मानि दुःख अनजान॥
८–सूछम अति तव कज नाल को तन्तु।
तबहूँ है फसि जात भयावह जन्तु॥
९–तव तरंग की सीमा यहि विधि नाहि।
खेलत जामहँ चित मराल सुख चाहि॥

—जयशंकर प्रसाद, काशी

प्राचीन प्रयाग

भूमि का वह सूक्ष्म भाग जिसको अब लोग "इलाहाबाद" वा प्रयाग ! कहते हैं, प्राचीन काल में अवश्य-मेव बड़ाही ख्यात रहा होगा, अर्थात भूमि का वह भाग जहाँ पर भारत की दो वृहत दैवी धाराओं का संगम होता है। वह विन्दु जहाँ से वे दोनों लम्बी स्वागतकारी बाहें सदैव उन जातियों की ओर फैलती रहीं, उन आगन्तुक विदेशियों पर जोकि उत्तरीयत घाटियों से होकर नीचे उतर रहे थे, सदैव बड़ा प्रभाव रखता रहा होगा।

यदि, जैसा कि अनेक पश्चिमीय विद्वान लोग सोचते हैं, हिन्दुओं की चार जातियाँ आर्य्य आक्रमण की तीन लहरों को सूचित करती हैं अर्थात वैश्यों की लहर जिसे क्षत्रियों की लहरने दबाकर आगे की ओर खदेड़ दिया, और क्षत्रियों की लहर, जिसे अधिकतर बलवान ब्राह्मणों की लहर ने ऐसा ही किया, तब हम लोग सरलता से देख सकते हैं कि जिस समय इन अनमिल जातियों के एक में सम्मेलन होने का कार्य हो रहा था, उस समय यह द्वाब की भूमि अवश्य ऐसी रही होगी जहां पर इतिहास का प्रादुर्भाव हो रहा था, अर्थात वह इतिहास ! जो अब हम लोगों के लिये सर्वदा के लिए नष्ट हो गया।

किम्बा, यदि हम लोग हिन्दुओं की प्रणाली पर ही, जाति की उत्पत्ति और आर्यावर्त्त का बसना मानें तौभी इस भूमि

भाग की अवस्था में तनिक भी भेद नहीं होता दीखता। जब पान्चाल, अवध, थानेसर और कन्नौज में बड़े-बड़े साम्राज्य बन रहे थे, और सदैव गंगा के उपजाऊ मैदान की ओर बल पूर्वक बढ़ रहे थे, उस समय यमुना की धारा अनेक युद्ध कालों के बीच सीमा रही होगी। यह अत्यन्त ही सम्भवित जान पड़ता है कि "रामायण" और "महाभारत" की छन्दोबद्ध कविताओं में कुछ कुछ ऐतिहासिक सार भी छिपा हो। चाहे कुछ हो, एक बात उसमें ऐसी सारगर्भित है जिससे इस देश में प्रजावर्ग के आने जाने की घटनायें, जिनका अन्य द्वाराओं से पता लगता है, सत्य होना सिद्ध हो जाता है। शब्द शास्त्र, उत्तर और दक्षिण की, एवं कतिपय अन्य जातियों में जो न उत्तर की, और न दक्षिण की थीं, उत्पत्ति के कारण दो बड़े भागों का होना बताता है। और कहता है कि ये दोनों भागों के लोगों की जब कभी मुठभेड़ हुई तो वे पहाड़ों की घाटियों में और भूमि के निराले कोनो में खदेड़ दिए गये कि जिसके कारण उनके साधारण नियम से विपरीत बातें आज दिन भी हम लोगों को देखने में आती हैं। प्राचीन शिलालेखादि के अन्वेषण की विद्या द्वारा बौद्ध धर्म के उन्नति की समय का बहुत कुछ वृत्तान्त जान पड़ता है, किन्तु ऋतु यहां पर ऐसी कड़ी होती है कि यदि धर्म सम्बन्धी उत्तेजना का कोई चिह्न मन्दिर वा स्मारक के रूप में शेष भी था, तो भी वह अब वर्त्तमान नहीं है। यदि कोई अवशेष भी है तो पूर्वीय (एशियाटिक) और पश्चिमीय (युरोपीय) विद्वानों का मत उनके विषय में मिलता ही नहीं, और उनके देखने से जो प्रश्न उठते हैं उनकी मीमांसा ही में दोनों सहमत होते हैं। जैसे क्या हिन्दुओं का वैष्णव और शैव सम्प्रदाओं में विभाजित होने से किसी प्रकार की जातीय विभाग झलकता है। वा इससे विशेष विशेष ब्यक्ति की विलग विलग इच्छा मात्र ही प्रगट होती है ? और क्या इस बात से कि एक जाति के लोग रक्तमय और दूसरी जाति के लोग रक्त रहित प्रकार का यज्ञ अच्छा समझते हैं, इससे उन जातियों की उत्पत्ति में कुछ विभिन्नता प्रगट होती है ? इस प्रकार के अनगिनत प्रश्न हैं जिन पर देश के विद्वान अपना अधिकतर समय अबकी अपेक्षा लगा सकते हैं। एक विस्मृत साहित्य पहले से ही काम में लाने के लिये प्रस्तुत है किन्तु उनके ग्रन्थकारों को ऐतिहासिक कहावतों की (जैसा कि उसका भावार्थ हम लोग मानते हैं) कुछ भी चिन्ता नहीं थी, और इतिहास विषयक बातों को अन्य प्रकार की बातों से निकालना एक ऐसा काम है जिस से विद्वान लोग कांप उठते हैं।

हिन्दुओं का कथन है कि राजहंस में यह शक्ति है कि यदि दूध और पानी मिलाकर एक थाल में रख दिया जावे तो वह दूध को पानी से अलग कर पी जावेगा, यह कार्य्य अत्यन्त ही चतुरता का है। किन्तु हाय ! कोई साहित्य का राजहंस अभी नहीं उठा जो इतिहास के दूध को कविता, शिक्षा, और आख्यायिका के पानी से जो भारत की प्राचीन साहित्य की थाल में रक्खा है, अलग करे।

(क्रमशः)*

श्री केदारनाथ, काशी

---

* यह प्रबन्ध चिरकाल हुआ "अनुसन्धान नामक बङ्गला मासिक पुस्तक में प्रकाशित हुआ था, उसीका यह छाया-नुवाद है। खेद है कि प्रबन्ध में मूल लेखक का नाम न होने के कारण नामोल्लेख न कर सका अतएव क्षमा प्रार्थी हूं। (अनुवादक)

द्विजराजकला विलास

बैठी सदा पदुमासन मैं,
पदुमासन कीन्हे कला अधिकाई ।
गौर सरीर मैं उज्वल चीर,
महामनि भूषनकी छबि छाई ।।
कच्छप त्यौं स्फटिकाक्ष की माल,
अभैंवर पुस्तक पानि सोहाई ।
शारदा ब्रह्म विचारमयी,
हिय पंकज मेरे बसैं नित आई ।।१।।

इन्दु जनुद क्षीर सिन्धो ! आप धन्य हो, आपका प्रशान्त गुण धन्यतर है, त्रिभुवन आश्रयदायी शेषशायी केशवाश्रयदायिनी आपकी अलौकिकी शक्ति धन्य तमां है । आपके गाम्भीर्य्य, धैर्य्य, माधुर्य्य, शोभा, तेज, ललित विलास, औदार्य प्रभृत गुणों की स्तुति कविजनों ने एक स्वरसे की है, और उसी संस्तुता स्तुति से सन्तुष्ट होकर मानों आपने अपनी दीनदयानिधान करुणादृष्टि से, असंक्षोभ जनक, सुदर्शन, चतुर्दश बिद्यारत्नाकर, साहित्यसुधासिन्धु को सारे संसार में प्रसार कर, अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष, देनेवाली उदारता की सीमा बाँध दी है । परन्तु शोक का विषय है कि इधर हम लोग निश्चिन्तता तथा आलस्य का दुपट्टा तान मोह आदि आठकाठ युक्त मूर्खता गुण (डोरी) से बिनी हुई खाट पर घोर निद्रा में अचेत पड़े हैं, उधर विद्या कार्य्य क्षमतादि परमाणु पूर्ण साढ़े तीन करोड़ सिरा जालों में बहती हुयी हमारे शरीर की रुधिर धाराका उसी सड़ी खाट के खटमल (विषयोभिलाषादि) निर्दयता एवं निर्भयता से चूस चूस संतुष्ट हो इधर उधर फूले फिर रहे हैं ।।

प्रियभ्रातृगण ! अब भी चेतो, उठो, निजनयनों को खोलो देखो अन्धेरा पक्ष बीत गया, आज शुक्ल पक्ष की द्वितीया है, हिन्दू मुसलमान सभी भारत सन्तान! आज बड़ी उत्सुकता पूर्वक प्रेम से आपस में मिलजुल कर आकाश की ओर सालस निर्निमेष लोचनोंसे देखते हुये यही निर्धारित कर रहे हैं कि यही हमारे सन्ताप परम्परा को शान्त करने वाला द्विकलक बालइन्दु है जिनकी दोही कला को इस समय सामान्याकी भांति प्रतीची दिक्-नायिका बलात् अपनी ओर खींच रही है, वही "इन्दु" थोड़े ही दिनोंमें अपनी करवालाकार कला से फूट रूप अन्धकार राक्षस का खण्डश: कर द्वीपान्तर में फेंकता हुआ सोलहों कलाके सहस्रों किरणोंसे महा महिमशाली निज जनक सिन्धु भगवान् को समुल्लासित करता हुआ हमें सदैव शान्ति देने के लिये पूर्वकुलाङ्गनाके आंगन में पूर्ण रूप से उदय होगा ।

आओ तब तक हम लोग परस्पर मिलजुल उस्के पूर्णोदय के निमित्त धैर्य धारण कर श्री द्विजराजभूषण देवाधिदेव महादेवजी के विशाल भाल स्थलस्थित सुरेन्द्रादि दशदिगीशों के कर कमलों के मुकुलित करने वाली ऐन्दवी बालकला का ध्यान करें । प्रियवर ! क्या ध्यान करने का विचार करते हो ? आह ! वह तो बिना निश्चिंतता के आसन पर बैठे होही

नहीं सक्ता, उसके लिये तो निरापद स्थान चाहिये, यहां तो पगपग पर आपद पिशाचिनी मुहबाये खाने को दौड़ रही है तिसपर इर्षा आंधी गाढ़ मोहान्धकार फैलाय स्वार्थपरता (खुदगरजी) के झोकाझोकसे आखों में क्रोध किरकिरियाँ भरती हुई ज्ञान विज्ञान युगल लोचन की शक्ति को शांत किये दे रही है, लोभ बवंडर ऊपर खींचकर, अहंकार आकाशमें घुमाता हुआ, मद हिमालय के मान शिखर पर पटक बुद्धि सहयोगिनी से वियोगी बनाय जड़ किये देता है। हाय ! इस हिमाकर में पड़े हमारे प्राणों को कौन उबार सक्ता है, हा ! दीनबन्धु धैर्य ! तुम किधर चले गये हो, भाई तुम्हीं तो हमारे सहज सहायक हो, तुम्हारे ही आधार पर तो अभी तक हम सब जी रहे हैं, इस विपत्ति में पड़े देख क्या तुम भी साथ छोड़ना चाहते हो ? हा ! जननी क्षीर सिन्धु बालिके ! तू हमसे बिमुख हो गई ? क्या तू हमारी इस दुर्दशा को नहीं देखती कि हम सब भांति के सुखों से वञ्चित हो इस तुषार मय पहाड़ पर पड़े गले चले जा रहे हैं, दीन दुःख निवारिणि जनार्त्तिहारिणि माता ! क्या हम लोगों के आर्त्तनाद से तेरा हृदय दयार्द्र नहीं होता ?

हा ! आज जगजनक श्री कृष्णमयङ्क बिलखाते हुये हमें दयाकर मयूखों से तेरे अंक के निःशंक सोलाने के लिये क्या समर्थ नहीं है। हा ! माता पिता दोनों हीने हमारी कृतघ्नता पर अप्रसन्न हो क्या अपने हृदय को बज्र कल्प तो नहीं कर लिया है ? हा ! यदि यही बात है तो आओ हम सब ऊँचे नीचे इतने हिममय बिचार चट्टानों से गिरते पड़ते अनेकानेक आपदबहुल ध्यान का मार्ग छोड़ इतने पहाड़ों को तोड़कर बहती हुई श्रीमती भगवती नव भक्ति भागीरथी में मग्न हो शैंबी इन्दु कला का विलास देखते हुये साहित्य सुधा सिन्धु में जा डूबे, परन्तु मग्न होने के लिये उद्यत होते ही "कलात्रय" युक्त भारतबन्धु "इन्दु" भगवान मानो निकलते हुये अपने दयार्द्र किरणों के सहारे पर, हमें और हमारे कठिन से कठिन आपदों में साथ देने वाले सब से बड़े भाई धैर्य्य ! को थोड़ी देर सन्तोष करने के लिये रोक रहे हैं। (क्रमशः)

—पं० बटुकप्रसाद मिश्र, काशी।

-○-

वीरव्रत साधन

(१)

ह्वै पारथ के सारथी, साध्यो स्वारथ जौन
सोई ईश कृपा करैं, सुन्दर सुखमा भौन।

(२)

कौरवपांडवजुरिसकल, आयेचलि कुरु खेत
स्वारथबस ह्वै मोहते, मोहे रण के हेत।

(३)

भीष्मकृप द्रोणाचार्य, भूरिश्रवा भगदत्तः
सुभटजयद्रथ दुःशासन सुहाये हैं।
द्रोणसुत कर्ण शल्य विदित महारथ ये।
राजा दुर्योधन सहित मुद छाये हैं।
केशव सहित पार्थ भीम अभिमन्यु, भट,
सात्यकि शिखंडी धृष्टद्युम्नवरगाये हैं।
द्रुपदसुता के पाँचो तनय कुमार वार,
भूपति युधिष्ठिर के सैनपलखाये हैं॥

(४)

साज सजि सैनप समाज युद्ध हेतु धाये,
साहस न ऐसो कहूँ दीसत अमर मैं।
"तोषनिधि" पूरिनभ मण्डल दिगन्तन लौं,
वाद्य भेरि शंखध्वनि दुंदुभि वमर मैं॥
ताही समय केशव सो बोल्यो सव्यसाची
वीर नाथ वेगि चलिये जू वाहिनी कमरमैं।
ऐसो समय फेरि ना मिलैगो कहं ताते चलि
लखिहौं सुवीरन को वोहित समर मैं॥

(५)

जा समैं चले हैं पार्थ केशव समर मध्य,
साजे वीर गाजे दल कौरवन ऊपरी।
तासमै तिलोक डगमगन लागी है धर,
धरकी कमठ पीठ तरनि तरूपरी॥
करकि करकि उठैं कसकैं करेजे कोल,
दिग्गज दबकि दाह दरकत पूकरी॥
लचकि लहर लै लै उसकि उसासन सों।
डारत फनराज फेन फनन फसूकरी।

(६)

सन्धिसों निकालि सैनमध्यरथ ठाढ़ो कियो
बोले वासुदेव पार्थ रणव्रतधारी सों।
लखिये सुबीरनको अरिदल जेता जौन
भीष्मकृप द्रोणादिक सुभट न हारी सों
जैसे करि संगर विश्वंभर को ताय्यो तैसे,
युद्ध करि विजय बिसाहो बीर भारी सों,
सुनिके किरीटी बैन मंजुल कृपाल जू के,
बोल्यो अश्रुपूरित ह्वै कंपित विहारी सों ॥

(७)

नाते में दादे अरु धर्म्म परिपूरित हैं,
पूजनीय योग तिन्हैं बधना बिचारिहौं।
गोदी में खिलायो मोंहि लाड़न लड़ायो,
भलीभांतिहितचाह्यो तिन्हैं बानन प्रहरिहौं
ऐसी अनरीति मोते कबहूँ न ह्वै है नाथ,
बानी देवतान की सुकौन विधि टारिहौं।
अर्जुन कहत ऐसो राज्य की न चाह मोंहि
फिरि बनवास होय भीषमै न मारिहौं ॥

(क्रमशः)*

---

* यह कविता मथुरा निवासी स्वर्गीय कवितोषनिधि की रची हुई फुटकर मुझे प्राप्त हुई इस्को मैंने यथाशक्य सुधार क्रम से बद्ध कर प्रकाशित किया है।

—चौ० ल० ना० सि० काशी

घूँघट

(गताङ्क से आगे)

विदित होता है कि इतनी शत्रुता करने ही से घूंघट सुन्दर है, क्योंकि घूंघट की यह शत्रुता क्या थोड़ी है ? देखो, जबराहु आकर पूर्ण चन्द्रमंडल को ग्रास कर लेता है, तब प्रकाश दूर हो जाता है और हास्यमयी पृथ्वी में अंधकार की छाया आ पड़ती है। उस समय चारो ओर अन्धकार हो जाता है, उस अन्धकार में यदि बिचार किया जाय, तो चन्द्र का मुख पहिले से और भी प्रिय प्रतीत होता है, जब बाहर अन्धकार हो जाता है तब हृदय के भीतर चन्द्र पूर्ण रूप प्रभासित होता है। कुछ ही समय में जब राहु चन्द्र को छोड़ देता है, तब पुन:प्रकाश हो जाता है, और चन्द्र देवकी वही हास्यमयी चन्द्रिका पृथ्वी पर खेला करती है। परन्तु घूंघट ने जो मुख चन्द्र को छिपा रक्खा है, वह तो एक बार भी नहीं छोड़ता, समीप बैठकर, दोनों हाथ निज हाथ में ग्रहण कर बहुत साधना करने से भी तो वह क्षण मात्र के लिए नहीं छोड़ता। वह न बात माने न अनुरोध रक्खे, मीठे बातों से भी वह नहीं भूलता, परन्तु तो भी तो घूंघट पर किसी को क्रोध नहीं आता, इतने पर भी घंघट ही की सुन्दरता ध्यान में आती है, क्यों ? सो कहता हूं। (क्रमशः)

—:०:—:०:—

समाचार

काशी भूमिहार ब्राह्मण सभा।

हर्ष का विषय है कि स्थानीय मोहल्ले सराय गोवर्द्धन के प्रसिद्ध रईस बाबू रामेश्वर दयालसिंह के बाड़े में ५ वीं सितम्बर से "भूमिहार ब्राह्मण सभा" होने लगी है, जिसमें अच्छे अच्छे लोग एकत्रित होते हैं और अपने सुललित लेख, एवं व्याख्यान द्वारा स्वजातीय भ्राताओं को सदुपदेश प्रदान करते हैं। ईश्वर इस सभाको चिरायु करैं।

यूरोपीय बीबी की वक्तृता।

श्रीमती पामर नाम्नी एक यूरोपीय बीबी ने हाल में एक वक्तृता दे कहा है "इंगलेण्ड हमारी पितृ भूमि, और भारत हमारी मातृ भूमि माताकी तरह है इसलिये हर एक इंगलेण्ड बासियों को चाहिये कि वह भारत वासियों के साथ शरीक हो, भारत के स्वदेशी का कल्याण करें। बात अच्छी है।

भारत में वायुयान।

फ्रांस जर्मनी तथा अमेरिका आदि नगरों में तो आकाश पथ में उड़ने वाले विमानों (हवाइजहाज) की धूम मची ही हुई थी, अब देखते हैं कि बिमान की शोरिश भारतवर्ष में भी आरम्भ हुई। भूपाल राज्य में एक अंग्रेज उड़ने वाला विमान तय्यार कर रहे हैं। बड़े लाट बहादुर शीघ्र ही भूपाल जांयगे। वहां पर अँगरेज बड़ेलाट बहादुर के सामने बिमान में चढ़ आकाश की सैर करेंगे।

(ॐ इन्दु शेखरायनमः)

'इन्दु'

मासिक पत्रिका

सज्जन चित्त चकोरन को, हुलसावन भावनपूरो अनिन्दु है।
मोहन काव्य के प्रेमिन के हित सांच सुधारसको वलिविन्दु है॥
ज्ञान प्रकाश प्रसारि हिये बिच, ऐसो जो मूरखता तमभिन्दु है।
काव्य महोदधिते प्रकट्यो, रस रीति कला युत पूरण "इन्दु!" है॥

कला १ } कार्तिक शुक्ल २ सम्वत् १९६६ { किरण ४

प्रेम-राज्य

काव्य

पूर्वार्द्ध

बाल बिभाकर सोहत,
अरुण किरण अवलीसों।
कृष्णा क्रीड़त निजनव,
तरलित जल लहरी सों॥
मलयज धीर पवन वन,
उपवन मँह सञ्चर ही।
कोकिल कुल कलनाद,
करत अति मधुर विहर ही॥
"टाली कोट" सुयुद्धभूमि-
में प्रवल दुहूदल।
सूर्य्यकेतु महराज,
विजयनगराधिप उज्ज्वल॥

प्रसिपक्षी वहु यमनराज,
मिलि सैन सजायो।
बीर कर्म्म, कादरता
को नव दृश्य दिखायो॥
सिंहद्वार पर खड़े,
नरेश लखैं सेनाको।
बाँधि परा जे यूथप
सँग घेरे बहु नाको॥
सेनापति सह सैन्य,
युद्ध भूमिहि चल दीन्हो।
पाँच वर्ष को बालक,
इक आगमन सुकीन्हो।
तब नरेश निज सुतके,
मुख सुख में अलि पागे।
हिये लाइ आनन्द सहित,
मुख चूमन लागे॥
कह्यो "प्रिया को बिरह,
तुमहि लखि सबहि विसारी।
किन्तु वत्स ! यह बीर
कर्म्म कुल प्रथा हमारी॥
सो अब तुमहि त्राण-
की आशा हिय मँह धारों।
काहि समर्पहुँ तोहिं,
चित्त नहिं कछु निरधारों॥"
आयो तहँ इक भील
यूथपति द्वुह्रु करजोरे
चरनन पै सिरनाइ,
कह्यो अति बचन निहोरे।
"महाराज यह राज-
कुँवर हमको दैदेहू।
राखैंगे प्रानन प्यारे–
को सहित सनेहू।
अनुज एक सहभील,
सैन्य आज्ञा पालन को।
आपहि की सेवा में,
है सेना चालन को॥
हिमि गिरि कटि मँह
इनकोलै हमहूँ चलिजैहैं।
शत्रु न कोऊ इनको,
खोजन ते कहुँ पैहै॥
जब हम सुनिहैं विजय,
आपकी तौ पुनि अैहैं।
कीन्हे नेक बिलम्ब न,
यामे कछु फल व्है हैं॥"
"अस्तु" कह्यो पुनि शिरहि,
सूँघि आलिंगन कीन्हो।
बालक को मुख चूमि,
तुरत भीलहि दै दीन्हो॥
"दादा !" कहि अकुलाइ,
उठ्यो तबहीं वह बालक।
नैनन में भरि नीर,
कह्यो नरगन के पालक॥
"दादा येही हैं तुम्हारे,
इनही को कहियो।
मेरे जीवन प्रान,
सदा ही सुख में रहियो॥"
यों कहिके मुख फेरि,
अश्व पै निज चढ़ि लीन्हो।
खींचि म्यान ते खड्ग,
युद्ध सन्मुख चलि दीन्हो।
आवत ही नरनाह,
देखि सब छत्री सेना।
आतिहि उमंगित भई,
अंग आनन्द अटैना।
बीर वृद्ध महराज,
बदन पर हांसी रेखा।

सब को हिय उत्साहित,
कीन्हो सबही देखा।
जयतु जयतु महराज,
कह्यो तब सबही फौजैं।
जलधि वीर रसकी,
ज्यों उमड़ि उठी बहु मौजैं।
फरकि उठे भुजदण्ड,
बीर रससो उमगाहे।
चमकि उठी तलवार,
वर्म्म अरु चर्म्म सनाहे।
सैना करि द्वै भाग,
एक सैनप को सौंप्यो।
अरु एकहिलै आप,
अकेले रन को रोप्यो।
तब हर हर कहि कीन्ह्यो,
धावा शत्रुन ऊपर।
गरुड़ करत जिमि दावा,
पन्नग प्रवल चमूपर।
भिड़े बीर दुहुँ ओर,
चली कारी तरवारैं।
बीरन के सिरहेतु,
अप्सरा तन मन वारैं।
दावि लियो रणवीर,
यमन के सबसेना को।
आगन को नहिं राह,
घेरि लीन्हो सबना को।

(क्रमशः)

जयशंकर प्रसाद काशी



प्राचीन प्रयाग

(गतांङ्क की पूर्ति)

किन्तु हम लोग बुझौवल सी ही बातें तब की कह सकते हैं, जिनमें सम्भवतः कुछ न कुछ सत्य अवश्य है। ऐसी किम्बदन्ती है कि यदुवंशियों के जैसलमीरकुल ने पहिले पहल गङ्गा यमुना के सङ्गम पर नगर बनाने की नींव दी, और उसको "प्रयाग" नाम से पुकारा। महाभारत के पांचो पाण्डव जब अपने पैतृक राज्य से, सन् इस्वी से १४०० वर्ष पूर्व निकाल दिए गये तो वे यहीं आये। यूनान के प्राचीन इतिहास में हम लोग पढ़ते हैं कि मैगेस्थानीज प्रयाग में सिल्यूकस के राजदूत के पद पर आया था, यद्यपि दुर्ग और नगर में कोई चिन्ह अब ऐसा नहीं दिखाई देता, जो अकबर और उसके उत्तराधिकारी नृपतियों के समय से पुराना हो।

किन्तु हिन्दुओं के साहित्य ने प्रयाग को इतिहास में ऐसा तुच्छ स्थान देकर सन्तोष लाभ न किया। उस पुराकाल में बड़ी बड़ी सुन्दर घटनाओं के यहां पर घटित होने का संकेत मिलता है। प्राचीन रामायण के कर्त्ता महर्षि वाल्मीकि अपने नायक "श्री राम"को फिर प्रयाग में

लाते हैं। उन दिनों में यह स्थल कोशल राज्यान्तर्गत था जिसकी राजधानी अयोध्या थी, जिससे आज कल उस प्रान्त (सूबे) का नाम 'अवध' पड़ा है। किन्तु प्रयाग उसकी सीमा पर की चौकी थी, क्योंकि ठीक यमुना के उसपार (वर्त्तमान बुन्देल खण्ड) कतिपय जंगली जातियों अर्थात् भीलों का मृगयास्थल था। जब श्री राम ने बनबास के लिये राज-सिंहासन और जन्म स्थान त्याग, और अपने विश्वासनीय अनुज और प्यारी स्त्री के साथ अरण्य का मार्ग पकड़ा तो उनका "पथ-दर्शक" एक जंगली सर्दार गुह नामक हुआ जो उनको एक विख्यात ऋषी भरद्वाज के दर्शनार्थ, जो एक वृक्ष के तले (वर्त्तमान 'कर्नल' गंज के निकट) बैठा करते थे, (जिस स्थान पर प्रतिवर्ष में एक मेला हुआ करता है) ले गया।

पीछे के रामायण, गो० तुलसीदास कृत में त्रिवेणी वा तीन नदियों के संगम की विचित्र प्रकार से प्रशंसा की गई है। क्योंकि गंगा और यमुना के अतिरिक्त एक तीसरी नदी भी गुप्त रूपसे आ मिली है जिसे लोग सरस्वती कहते हैं, और जो केवल धार्मिक लोगोंकी ही धर्म्म-दृष्टि से दिखाई देती है। कबि इस संगम का उल्लेख करते समय सर्वतोभाव कवि हो जाता है। कहता है:—यह तीर्थ राज जिसका मन्त्री सत्य, श्रद्धा स्त्री और कोष, जीवन के चार बड़े बड़े पदार्थों से भरा है, अर्थात, काम, अर्थ, धर्म्म और मुक्ति, जिस्को कि एक ऐसी सेना है जिसका गुण और प्रभाव ऐसा है कि उसके आगे पाप की सारी सेना पीठ दिखावे। नदियों का पवित्र संगम जिसका राज्य सिंहासन गंगा और यमुना की धारा जो परम पवित्र तथा पाप रहित है और महात्मा यती लोग जिसके सेवक हैं, वह ऐसा दृश्य है कि जिसके देखने से सारा दुःख और शोक भाग जाता है।

ऐसे उल्लेखों के अतिरिक्त बाबा तुलसीदास की धारा प्रवाह कविता में प्रयाग के नगर के विषय में और कुछ नहीं सुनते हैं, किन्तु वह यहां के निवासियों, वृद्ध यतियों और बाल ब्रह्मचारियों, गृहस्थों और स्त्री सहित पुरुषों, की प्रसन्नता के विषय में है, जो माता गंगा तथा युवराज भरत के बीच प्रीतिमय वार्त्तालाप के सुनने पर हुए जबकि वे सेना सहित इसी मार्ग से अपने भाई को अरण्य से बुलाकर राज्य सिंहासन देने के लिए आये, अवश्य लिखा है।

तुलसीदास की साक्षी के अनुसार प्रयाग में उस दिन एक आश्चर्य्य जनक घटना हुई। जब सन्ध्या काल का अंधेरा फैल गया तब उस वृद्ध ऋषि ने सोचा कि मैंने कोई उचित प्रबन्ध न किया कि भरतजी के सेना का आतिथ्य सत्कार इतने बड़े जंगली यात्रा के उपरान्त करें, तब उन्होंने अपने योग बल से आकाश की अप्सराओं को बुलाया और उनको आज्ञा दी कि तुम लोग जाकर उन सारी बातों को जो आतिथ्य सत्कार के नियमानुसार होना चाहिए, करो।

अप्सराओं ने योगिराज के पद्पद्म का चुम्बन किया और अपना मार्ग लिया

पर उनकी आज्ञा को कार्य में परिणित करने का ध्यान रक्खा। एक क्षण में सारा मैदान (बहुत दूरलों) उत्तमोत्तम मंडपों से आच्छादित हो गया जिसमें नाना प्रकार के सुख चैन की वस्तुयें उसी प्रकार से प्रस्तुत हो गईं जिस प्रकार से कि वे थकित योद्धा लोग उन्हें चाहते थे, प्रत्येक मनुष्य के लिये विलग विलग निवास-स्थान दे दिया गया। राज्य सिंहासन तथा पलँग पलँगड़ियाँ पर्दे और शामियाने, कुञ्ज और बाटिकायें, सुगन्धित पुष्प-अमृत के समान फल और निर्मल जलके अनेक तालाब और बावलियों संक्षेपतः सारी वस्तुएँ जो थकावट मिटाने, एवं प्रफुल्लित करने के लिए आवश्यकीय थीं वहाँ प्रस्तुत हो गयीं। आज्ञापालक चाकर स्वादिष्ट से स्वादिष्ट भोजन और पान लिए लोगों में बाँटते थे, और प्रत्येक आनन्द के विषय ऐसे थे कि जिससे थका हुआ जन नींद में आ जावे। किन्तु पौ फटते फटते वह योगबल निर्म्मित नगर अन्तर्हित हो गया और योद्धाओं ने पुनः अपनी कठिन यात्रा प्रारम्भ की। कवि की ऐसी ऊँची उक्तियों को छोड़कर प्रयाग के पिछले दिनों के लेख की ओर आना मानो पर्व्वत से उतर कर मैदान में आ जाना है। परन्तु जब हम लोग उस समय की बात की ओर देखने लगते हैं जब कि फाहियान ने प्रयाग की यात्रा श्री रामसे शताब्दियों पीछे की थी, तब हम लोग एक दृढ़ भूमि पर आ जाते हैं। उससे तीन शताब्दी पीछे दूसरा चीनी यात्री इस नगर में आया, क्योंकि स्वर्गीय "साम्राज्य" के बौद्धोने व्हैन-शांग को भेजा कि वह जाकर देख आवै कि "एशिया का द्वीप" बौद्ध धर्म्म उस देश में जहां पर कि उसकी किरणैं पहिले पहल फुटी, कैसे चलता है। वह प्रयाग के नगर का इसी नाम से वर्णन करता है, पर इसमें सन्देह हैं कि किम्बा यह नगर आजकल के ही स्थान पर था, या कई मील दूर। ।व्हेनशांग प्रयाग में सैकड़ों हिन्दुओं के मन्दिर और बौद्धों के मठ का होना बताता है। अतएव यदि हम लोग पूर्वीय वाग्वाहुल्य को भी माने तब भी उस समय प्रयाग का एक महान प्रभावशाली नगर होना सिद्ध होता है।

प्रयाग में बौद्ध धर्म्म के अत्यन्त ही स्वल्प चिन्हावशेष हैं। किन्तु दो स्मारक बड़े ही स्वार्थ पूर्ण वर्त्तमान हैं पहला तो अनेक स्तम्भ सम्पन्न मंडप (दीवान खाना वा हाल) हैं, जो दुर्ग के मध्य मार्ग में पृथ्वी के नीचे गड़ा हुआ है, और जिसका दर्शन प्रतिवर्ष सहस्त्रों यात्री करते हैं, इस के आकारसे यह जान पड़ता है कि यह एक प्राचीन विहार है, और जो ब्राह्मणों की मूर्तें इसमें भरी हैं, वे ऐसी ही हैं जैसे कव्वे के खोते में कोयल। इस विहार में जाने का मार्ग पृथ्वी के नीचे नीचे बहुत दूर तक है जिसके किनारे किनारे उत्तमता से कटे हुए पत्थर लगे हुए हैं और मण्डप के दूसरी ओर एक दूसरा मार्ग उसी प्रकार घेरा हुआ दिखाई देता है, पर वह पथ अत्यन्त ही संङ्कीर्ण और नीचा है। उसमें से होकर कोई निरापद नहीं चल सकता, इस मार्ग के विषय में ऐसी किम्बदन्ती है कि काशी को पहुँचाता है।

दूसरा स्मारक विद्वानोंही के योग्य है। यह दुर्ग के केन्द्रस्थल में पृथ्वी के धरातल पर खड़ा है। यह भूरे रेत प्रस्तर का दुर्बल सुन्दर स्तूप है, जिसकी उँचाई ४२ फीट है और जो ऊपर की ओर गावदुम होता चला गया है। इस का सबसे प्राचीन लेख सम्राट प्रिय दर्शी की प्रशंसा में है जिसे लोग अशोक मानते हैं और जो सन् इस्वी से २४० वर्ष पूर्व शासन करता था, यह स्तूप उन बहुत से स्तूपों में से एक है जिन्हें सम्म्राट अशोक ने अपने राज्य के अनेक स्थानों में खड़ा करवा कर अपने समय में बौद्ध मत के प्रचार की आशा की थी। इस पर गुप्त (चन्द्र गुप्त अशोक के पोते) और जहाँगीर (अकबर के साहबजादे) के भी लेख हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि यह बहुत दिन लों भूतल पर अपमानित पड़ा हुआ था क्योंकि इसके ऊपर की ओर लम्बाई में सन् १३९३ और सन् १६०० के बीच के अनेक लेख खींचे हुए हैं। शिला तथा कहानियों को यदि उन सारी बातों को कहने के लिये शब्द होते, तो वे उन बातों को जिन्हें उन्होंने उन शीघ्रगामी शताब्दियों में देखा है अवश्य कहते, अर्थात् विजय और पराजय को, काल और मरी को, नवीन धर्म्मों के खड़े होने और प्राचीनों के नाश होने को, उच्चतर सभ्यताओं के निर्बल सभ्यताओं पर उठ खड़े होने को, अनगिनत संसार के उलट फेर आदि को, जो सब एक आवश्यकीय फल की ओर ही ले जाने के कार्य्य में परिणित होते हैं। इस प्रकार संगम पर का नगर वैसा, जैसा कि हम उसे आज दिन देखते हैं अस्तित्व को प्राप्त हुआ है। किन्तु इस नगरका नाम वास्तव में क्या है? हिन्दुओं की दृष्टि में वह अद्यापि "तीर्थराज" है।

मुसल्मान लोग कहते हैं कि हम लोगों के आक्रमणकारी पुरखे प्रयाग में अनगिनत मन्दिर और मूर्तियों को देख घबड़ा गये और इसका नाम "इलाहाबाद" रक्खा। किन्तु चाहे उन के दीनदार बादशाहों के पवित्र गुणों के कारण, जिनमें से थोड़े से बड़े चाव से यहाँ निवास किया करते थे, वा केवल अपभ्रंश की रीति से हम लोग अब इस नगर को देवताओं का नगर न जानकर "इलाहाबाद" (वा "भगवान का नगर") पुकारते हैं। किन्तु शोक के साथ कहना पड़ता है कि इस नगर ने अपने इस नाम के सत्य होने का परिचय न तो ख्रीष्टीय न मुसल्मानी और न हिन्दू रीति से ही हाल के समय में दिया है। किन्तु यह बड़े गौरववान नाम रखने का दण्ड मात्र है। नाम के अनुसार होना मनुष्य के वश के बाहर की बात है।

श्री केदारनाथपाठक, काशी।

o—:o:—o

रेवातट की मृगया

प्राचीन काल में राजपूत लोग मृगया में अति निपुण होते थे, और यही कारण था कि प्राचीन समय के राजपूत कुमार लोग दीर्घकाय ओर बलशाली होते थे। महाराज धिराज पृथ्वीराज भी मृगया व्यसन लोलुप थे। मृगया के पीछे वे बहुत कुछ व्यय करते थे। एक दिन स्नान ध्यान पूजा पाठके अनन्तर चामुण्डरायने यह प्रस्ताव किया कि महाराजा को रेवा (नर्मदा) तट पर मृगया खेलने चलना चहिये। वहां पर रोटावत की तरह बड़े से बड़े हाथी पाये जाते हैं। अनेक प्रकार के हिंसक जंतु इधर उधर चांदनी रात्रिमें निर्भय फिरा करते हैं। रेवातट के निकट ही एक सघन बन है, उस सघन बन में मंद मंद मृग और साधारण से चारो तरफ के मदमत्त हाथी झुण्ड के झुण्ड पाये जाते हैं, उस बनकी शोभा भी अति रमणीय है। वहां नाना प्रकार के पंकज और कुमोदिनी समूह से आच्छादित विमल जल पर सुन्दर सरोवर शोभायमान है। अनेक प्रकार के लताओं से परिपूर्ण गुफादिकों में दन्ति-शावक अपना इधर उधर कलोल किया करते हैं। कहीं कहीं पर मृगादिक के झुण्ड इधर उधर घूमा करते हैं। हिंसक जन्तुओं से वह बन परिपूर्ण हैं, इस हेतु वहाँ मृगया के निमित्त अवश्य चलना चहिये।

चामुण्डराय के इस प्रस्ताव से पृथ्वीराज अतिप्रसन्न हुए और मृगया के सब सामान करने की आज्ञा दे दी। थोड़े ही दिनों में मृगया का सब सामान ठीक हो गया। पृथ्वी राज की सेवा में विस्तरी खण्डल और नन्दपुरीका राजा भी आ उपस्थित हुआ। इधर जब शहाबुद्दीन को राजा के मृगया का पता लगा तो उसने भी दिल्ली पर पुन: चढ़ाई करनेकी तयारी करदी! देश द्रोही सामंतो ने रत्ती रत्ती हाल शहाबुद्दीन से कह सुनाया। यद्यपि शहाबुद्दीन कई बार पकड़ा गया था और कुरान की कसम खाने पर छोड़ा गया था, पर वह बराबर पृथ्वीराज को बन्दी करने में लगा रहा। उसने दर्बार में वीड़ा फॅक कर कहा कि कौन ऐसा वीर है जो पृथ्वीराज को कैदकर मेरे सामने हाजिर करे। पान को फेकते ही सब मुल्ला और वजीर लोग एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। किसी को हिम्मत नहीं होती थी जो उस बीड़े का भार अपने ऊपर लेता। अन्तमें शहाबुद्दीन का रक्तवर्ण चेहरा देखकर मारूफ और तातारखाँने उस बीड़े को उठा लिया और शहाबुद्दीन के आगे माथा झुकाकर कहा "जनाब आप घबराइये नहीं, अगर यह बन्दा उस का फिर पृथ्वीराज को इस वार कैद करके हुजूर के सामने हाजिर न करे तो मुसलमान के नसल का नहीं वरना काफर का। ये हिन्दू लोग बहादुर होते हैं सही, पर इनमें नाइत्तिफाक ऐसा रहता है कि ये हम लोगों का मुकाबला नहीं कर सकते। ये अपनी

बड़ाई के लिये आपस में साँप नेवलों की तरह कट मरेंगे, पर ये जुट कर अपने मुल्के के लिये लड़ना नहीं जानते। इस लिये ये आज नहीं हारते हैं तो क्या, ये लोग मुसलमानों के गुलाम होंगे जरूर। मैं अभी राजपूती सेना के मालिक चामुंड रायको अभी मार गिराता हूं और उसके सरको अभी हुजूरके रूबरू हाजिर करता हूं।" इस प्रकार मारूफ और तातारखाँने बीड़ा उठाकर शीघ्रही काबुली, अफगानी और गिलजइयों को जुटाने लगा, सेना जुटकर तैयार हुई और कूच का नक्कारा बजाती हुई भारत वर्ष की तरफ आने लगी।

(क्रमशः)

श्री हरिदास माणिक, काशी।

०:◌:०:◌:०

बीरब्रत–साधन

(गतांक से आगे)

(८)

बोले बासुदेव फेरि कहिये न ऐसी बात,
बृद्ध तन भीषम को यह ना बिचारिये।
कसे हैं प्रतिज्ञा सों लसे हैं नगर के बीच
आठो जाम कबहूं वह चिन्तसौं न टारिये॥
भोर होत २ रथ आपनो लगैयो पाछे,
द्रुपद कुमार सों शिखंडी आगे करिये।
स्त्री जानि गांगेय उतैमुख मोर लैहैं,
तानिके सराशन कराल बान मारिये॥

(९)

सुनि यह बानी सुखसानी सब्यशाची बीर
पानि जोरबोल्योनाथ, आयसु जो पाऊं मैं
लड़िहौं अवश्य यामैं संशय कछू है नाहिं,
क्षत्रीपन धारि क्षत्रतेज दर्साऊं मैं॥
तीछन कठोर घोर, बान बरसा मैं छाइ,
कौरवन कादर को, दलि बिचलाऊँ मैं।
धर्म्म राज राजले बिराजैं, मन मोद भरि
केशव तिहारी सौहँ, प्रलय मचाऊँ मैं॥

(१०)

थोंकहि पारथ मोदसों, लखन लग्यो रणखेत
धर्म्मराज ताही समय, धर्म्मं राखिवे हेत॥

(११)

निकसि आपनी सैनते, पाँय पाँय चलि बीर
पहुंच्यो कौरवदल निकट, धारिधीरताधीर॥

(१२)

बोल्यो हाथ उठाइ, कौरवदल के बीरसों।
कहहु संदेशो जाय, भीष्मपिता महँके निकट॥

(१३)

कोई भीष्मजीसों जाय, कहिये सँदेशो मेरो
ठाढ्यो पांडु पुत्र है, तिहारी मति सीख मैं॥
बारह बरस सीतावात दुर खेये सबै।
सिर पर बीते जलधार तप ग्रीषमैं॥

रावरो सों सुभट न कोऊ नर नाम गध्य,
विक्रम न ऐसो कहूं आंखिन सों दीख मैं।
भैंटयन बचैयो निज, बाण बिकरालन सों।
मांगन को आयो, इतै भीषम सो भीखमैं।
सुनिवानी नृपधर्म्मकी, भीषमताहिबुलाय।
पूछन लाग्यो प्रेमसों, कहहु हेतु समुझाय।।

(१५)

नीचो सिर करिकैं, प्रणाम करी भीषमको
तुमरे समान दोऊ, एक से बिचरि हैं।
जा कछु अपराध सो हमसों सचाय लेहु
ताहूपै कृपा करि, बतैहो सोइ करि हैं।।
भीषम नें कही "जाउ उनकी पराजय है
बीते कछु काल वै न मेरी चिन्त धरि हैं।
धर्म्मराज तेरी धर्म्म, धीरता सराहि चाहि
भाखैं जयतेरी पै उनके अर्थ मरि हैं।।"

(१६)

धर्म्मनृपतिसुनि बैंन, भीष्मपितामहँकेसुखद
पुलकि गात भरिनैंन, माँग विदा गवनेतुरत

(क्रमशः)

०:—:०:—:०

घूँघट

(गतांक से आगे)

घूंघट काला हो चाहे कुत्सित हो, वह जिस्को छिपा कर रखता है वह चिर सुन्दर है, अतएव घूंघट कुत्सित होने पर भी सुन्दर है, अच्छे के साथ रहने ही से अच्छा है। काला पानी काला दिखाता है इस हेतु वह सुन्दर नहीं है, किन्तु उसके अन्तर में जब नक्षत्र खचित नील आकाश का चित्र दिखाई देता है तब वह सुन्दर प्रतीत होता है। उसी भांति काला मेघ अमृत वारि घर्षण करता है इस हेतु वह सुन्दर है, और कालाबाल सुन्दरी या सती स्त्री के पद चुंबन करने ही से सुन्दर तथा आदरणीय है। काला है इस लिये वह सुन्दर नहीं है, किन्तु अच्छे के साथ रहने ही से काला मनोहर है।

घूंघट का गठन लेकर वादा विवाद न करना। घूंघट सुन्दर है। सुन्दर मुख को छिपाने ही से सुन्दर है।

देखो, 'सृष्टि रचना' हम लोगों के अज्ञात होने के कारण कितना सुन्दर है, किन्तु ज्ञान के उन्नति के साथ सृजन होने का आवरण क्रमशः उन्मोचन करो, तो एक-एक रहस्य का परिचय पाकर जीवन सार्थक कर सकोगे। घूंघट के अन्तर्गत मुख छिपाकर रखना एक रहस्य है, और सौन्दर्य्य भी है, एक बारही उसको खोलना नहीं, क्योंकि खोल देने से उसका नूतनत्व कुछ भी न रहेगा। और नूतनत्व न रहने से उसके प्राप्त करने की आशा रूपी पिपासा भी उतनी न रहैगी। जिसको

"हमारा" कहने का सम्पूर्ण अधिकार है, यदि उसका मुख घूंघट के ओट में छिपा हुआ है, तो वह उसके सौन्दर्य्य को बढ़ाए हुए रहता है। उसको जितना देखोगे, उतना ही ध्यान में ज्ञात होगा, क्योंकि उसको अभी तक पूर्णत: नहीं देखा है, अतएव जितना देखोगे उतना ही नया दिखायेगा, और यही विदित होगा कि "क्या हमने इसको और कभी देखा है ?"

सृष्टि के आवरण के सदृश, मुखका आवरण भी तृषितनेत्रों से खोलकर देखो, मनुष्यके चिन्तातीत अनेक सौन्दर्य्य उस में देखकर मोहित हो जाओगे। बैठ-बैठ कर जितना देखोगे उतना ही देखने की पिपासा अधिक होगी, वह पिपासा चक्षु की नहीं है, किन्तु "आत्मा" की है। आत्मा की पिपासा अमृत की भिखारिणी है, घूंघट के अन्तर में जो चन्द्र मुख मण्डल है वह अमृतमय है; संसार के शोक में, ताप में दुख में, सुख में, वही मुख शांति, सुख और सम्पद है।

'लज्जा' स्त्री जाति का प्रधान अलंकार है। घूंघट मुखको छिपा कर जब इस अलंकार से सुशोभित होता है, तो वह उस सौन्दर्यता को और भी सुन्दर कर देता है। यदि कोई नवोढ़ा बधू जब किसी बड़े के सामने खड़ी होती है, देखा है कि वह मूर्ति कैसी मनोहारिणी है ? मुख भूमि की ओर झुकाये हुए; दोनों नेत्र एक साथ निज चरण की ओर लक्ष्यकिये, और घूघट से समग्र मुखमंडल का छिपाए हुए, साक्षात लक्ष्मी स्वरूपिणी वह मूर्ति ! हृदयङ्गम होती है—किन्तु नहीं, पट में अंकित करने से तो लक्ष्मी जी की मूर्ति भी इस भाव में नहीं आवृत हो सकती।

असावधानी से यदि कहीं घूंघट हट गया हो, और उसी समय सखीजन के अतिरिक्त यदि किसी दूसरेकी दृष्टि उसके ऊपर पड़ जाय, तो उसी समय वह चकित हरिणी की भाँति, जब धूँघट मुख के ऊपर फेंकती है, तो वह दृश्य कितना मधुर प्रिय होता है, कोई रसिक कबि उसको देखकर कहता है कि—"यह चकोर नयनी निश्चयही इन्दु सौन्दर्य्य की नवल शोभा चोरा लिये है, नहीं तो, यह अन्य को देखने से अपने मुख को घूँघट से क्यों छिपा लेती है।

"अचूचुरच्चारुचकोर लोचना श्रियं-
किमिन्दोरय वान्बुजन्मनः
यतोजनः कञ्चन वीक्षते यदा
पिच्पायगोपायति स्वाननंतदा ॥"

किन्तु ऐसी रसिकता छोड़कर, इसका यथार्थ अर्थ हृदयङ्गम् करो, समझोगे—इसका क्या उद्येश्य है हिन्दुओं की गृह लक्ष्मी इस्को समझे हुए हैं कि, स्वामी के अतिरिक्त उनका मुख परपुरुष नहीं देख सकता, और न वह परपुरुष को अपना मुख दिखा सकती हैं। इसी नीतिका अवलम्बन करने से हिन्दुओं के अन्तःपुरों में आज दिन भी शृङ्खला और पवित्रता निर्विघ्न रहती है।

घूंघट के ओर देखने से यह बोध होता है कि चातक पक्षी के सदृश वह गृह लक्ष्मी ! संसार रूपी जो आकाश है उस में विचरण करती है ।

हृदय कितनी आशा, कितना आनन्द, कितनी आकांक्षा से पुलकित और पूर्ण है, संसार-पथ जिसका कोमल, कुसुमावृत! है, जिसका हृदय ऐसा, तिसका मुख हास्य से भरा हुआ क्यों न होगा ? घूंघट में छिपा हुआ वही हास्य मुख देखो, पृथ्वी और स्वर्ग एक मय ज्ञात होगा ।

(क्रमशः)

—:०:—

अन्योक्ति-प्रबन्ध

(गताङ्क से आगे)

(१७)

अहो सरवर शुष्क ह्वै जैहैं जबै तुवनीर ।
विहँग अम्बर पंथ गहिहैं त्यागिकैयहतीर
भूलि प्रीति पुरातनी, अलगायकै अरविन्द
मंजु मुकुल रसालपै करिहैं विहार मलिन्द
नीर पीवन हेतु आवत जौन वारन वृन्द ।
नदिन मध्य विहारकरिहैं जाइ तौनकरिन्द
जिन्हैं केवल आश तेरी दशा ताकी हेरि ।
कहहुका गतिहोहिगी इन दीनमीननिकेरि॥

(१९)

ग्रीष्मदुःस्सहदिवसमैं तपितपनआतप माहिं
अमितदुखसों कालयापनकियो चातकचाह,
भयो नेकन श्रमितकेवल मिलनआशाराखि
ध्यानकरितुवशांतचितह्वै रह्योयहजगसाखि
दैववश तेहि पाइनिज लोचनसमक्ष निहारि
भयोप्रमुदितपरमहियमैं निजदशा सुविचारि
पाइहै यदि एक बुंद न हाय तोसों नीर ।
अहो मेघ बताउ केती होहिगीतेहिं पीर ॥

(२१)

पाइ जन्म नवीन नीरज विपिनमें मुदछाइ
स्वेच्छयामधुपानकरि तितरम्यो हेरिसुभाय
मंजु परिमलपुंज झरत पराग सरससुबास
अद्वितीय सुगंधि मयमंदार मैं करिबास ॥
त्यागिकै तेहि अन्यवन्य प्रसून पै यदिजात
धन्यपरमप्रबीन भ्रमर गुनीन तुम समतात
दैवबस फँसि लोभमैं सेवतसुगुंजलतान
कौन २ दशा तिहारी वरनिये मति मान ॥

(क्रमशः)

——:—:——

अभिवादन पत्र

अहा भारत भारती! तू है कहाँ टुक देखतो
निजसुतोंकीहो रही है क्यादशाटुक पेखतो।
एक से है एक को द्वेषत्वता छाई हुई,
फूटही की धुन सभी के चित्तमें भाई हुई॥
एक पंडित दूसरे पंडित कोहै दुदकारता।
उन्नतीको त्याग नीचाही दिखाना चाहता॥
है यदी कोई धनी तो ऐशही में है पड़ा।
सैकड़ों उड़ती चलै पै हो नहीं सक्ते खड़ा
लेक्चरारोंकी कहैं क्याहाल हमवहजोकहैं
होचुकावहवहीं, घरजाके वहीसबकुछ करैं।
मिलगईएकगाँठ हरदीकी जिसे, उसने कहा
मैंहुँ पन्सारी, वही होता है जो मैंने चहा॥
जात तो जातीयताही बस जताने को रही॥
जातताकोछोड़जाती जातको भातीनहीं।
जिस्नेथोड़ासाभीज्योतिषदेखलीफिरक्यारहा
छपगई नोटिस वहीहोताहै जो मैंने कहा॥
पास जिसके कोई विद्याहै बताताही नहीं
पूछो तो गूँगा बनैं बस लुप्त यासों होरही।
मंत्र अरु जो जंत्र को जानै नहीं क्यावस्तुहै
तांत्रिक बनते फिरैं वह हैं हमी जोजगचहै
'मत' न पूछो क्या कहूँ कितने हुए होते रहे।
इन्को पूजो उन्कोछोड़ो अपनिहीकहतेरहे
नास्तिकता इसतरहफैली किईश्वरभीनहीं
मूर्त्ति पूजाकी भलाअब बातक्यों आगे रही।
तेरिही गौरव रही जो शेष भारतमें सती
होवहीं स्वच्छन्दरमणी अबकरैं ग्यारहपती
कोटपेन्ट अरु घड़ीचश्मा एक्सडब्लूसोंबने
मातृभाषाछोड़मुखकोमोड़अब'यसनो' भनें।
हा जगतमाता! तू क्यों निजदेश से रूठीगई
विमुख होनेसेतेरे इस देश की यह गतिभई।
विजयदशमी, पूर्णिमा,दीपावलीहू आपरो।
आओमाताआओमाता अबविलम्बनहींकरो
आहमातादेखअबभीदशा निजसुत धामकी
सुमतिदेपुरुषार्थदेचरितार्थकरनिजनामकी।
क्षमाकीजे क्षमाकीजे एकरवतवसुतकहे
क्योंन अबभी दयाकीजे, दयाकीजे मातु हे।



दीपावली का अद्भुत जुआ

(१)

जैसे ही कपड़े पहिन कर मैं आफिस जाने को टांगे (गाड़ी) पर सवार हुआ, तैसे ही डांकिए ने आकर मेरी डांक पहुंचाई। और चिट्ठियों को न खोल कर पहिले मैंने उसी चिट्ठी को खोला, जिस पर मेरे पिता के हाथ से सुन्दर गोल-गोल मोती केसे अक्षरोंमें मेरा पता लिखा था। उसमें लिखा था :—

चिरंजीवि पुत्र !

यहां पर सब कुशल है। परमेश्वर तुम्हें कुशल रक्खें। दशहरे की छुट्टी में तुम न आए। खैर, अब दीपावाली आती है। 'लक्ष्मी पूजन' के वास्ते अवश्य आवो।

बहू को भी साथ ले आना। तुम्हारी माता कहती हैं कि—"बेटा बहुत दिनों से घर नहीं आया, और बहू को भी देखने की बड़ी इच्छा है। सो उसको लिख दो कि एक दो महीने की छुट्टी लेकर घर रहे।" मेरा भी यही कहना है। आगे तुम्हारी इच्छा। शेष सब कुशल है। उत्तर शीघ्र देना।

राम सुन्दर।

पत्र पढ़कर मैंने उसे जेब में रख लिया। आफिस से लौट कर घर में आते ही स्त्री को पत्र देखाया। पढ़ कर बोली "चलोगे तो?"

मैं—"क्या करेंगे जाकर?"

स्त्री—"क्यों, लक्ष्मी पूजन न करोगे?"

मैं—"हम तो अपनी 'लक्ष्मी' की रोज पूजा करते हैं, उस दिन विशेष भक्ति भाव से कर देंगे।"

स्त्री—"कहां हैं, आप की 'लक्ष्मी'?"

मैं—"तुम कौन हो?"

स्त्री—"(जरा भौंह चढ़ाकर) ऐ है, आपकी दिल्लगी के मारे तो मैं हैरान हो गई। रात दिन दिल्लगी।"

मैं—"दिल्लगी नहीं सच कहता हूं भला तुम्हीं बताओ लोग स्त्रियों को 'गृह लक्ष्मी' कहते हैं कि नहीं!"

स्त्री—"अच्छा-अच्छा आप जीते और मैं हारी, परन्तु यह तो बताइए कि आप जायेंगे अथवा नहीं।"

मैं—"देखें, छुट्टी मिलने पर बात है।"

(२)

आज दीपावली है। आज ही लक्ष्मी पूजन है। मैं घर आया हुआ हूँ छुट्टी केवल एक ही महीने की मिली है।

मेरे रहने का स्थान शहर न होने पर भी एक अच्छा कस्बा है। यहां के लोग जानते हैं कि 'दीपावली' क्या चीज है। जहां देखो तहाँ रोशनी हो रही है। सब दुकानदार अपनी अपनी दुकानों को सजा कर लक्ष्मी पूजन कर रहे हैं। दीपावली जल रही है। लड़के फटाके फुलझरी आदि आतिशबाजी चलाने ही में निमग्न हैं। जिधर देखो उधर 'ये आठ' 'ये तीन' 'पव बारह' की ध्वनि उड़ रही है।

बस्ती की यह शोभा देख मैं घर पहुंचा। घर में 'लक्ष्मी पूजन' की सब सामग्री तैय्यार थी। केवल मेरी देरी थी। मेरे पहुंचते ही पिता जी ने पूजन आरम्भ किया, समाप्त होने पर हम लोगों ने प्रसाद पाया। व्यालू कर मैं फिर बस्ती की शोभा देखने की इच्छा कर शयनागृह में कपड़े पहिनने चला। कपड़ा पहिनकर ज्यों ही बाहर होना चाहता था कि मेरी स्त्री महाशया सन्मुख दिखाई पड़ीं, मैं रुका, वे आकर और मेरा हाथ पकड़ कर बोलीं "कहां चले!"

मैं—"घूमने।"

स्त्री—"कि जुआ खेलने!"

मैं—"क्यों, क्या जुआ खेलने में कुछ हानि है। आज के दिन तो जुआ खेलना ही चाहिये।"

स्त्री—"सेठ बंशीमल का हाल आपने नहीं सुना। हमने मुना है कि उसके यहां एक कानी कौड़ी भी न रही।"

मैं—"बंशीमल मूर्ख है। क्या कोई ऐसा ही जुआ खेलता है कि दाने-दाने को मुहताज हो।"

स्त्री—"तो कैसा खेलना चाहिये!"

मैं—"हमारे महर्षियों की आज्ञा है कि जुआ खेलो। कब? सदैव नहीं, केवल लक्ष्मी पूजन के दिन। किस लिए? यह देखने के लिए कि इस साल तुम नफे में रहोगे कि नुकसान में।"

स्त्री—(हाथ पकड़ कर) "आओ, भीतर चलो, मुझे एक बात कहना है।"

मैं—"कौनसी बात? यहीं कह डालो न।"

स्त्री—"वह बात यहां कहने के योग्य नहीं है।"

भीतर जाकर हम दोनों पलंग पर बैठ गये, मेरी स्त्री प्रथम ही कहीं से कौड़ियां ला रक्खी थी—बोली "व्योपारी तो अपने व्योपार की नफा नुक्सान की बात जानने को जुआ खेलते हैं, आइये, हम भी अपना लाभ हानि जानने को जुआ खेलैं।"

मैं—"हम नहीं खेलते, साहब ने तो कह ही दिया है कि इस साल हम तुम्हारी तरक्की १००) से १२५) कर देंगे। अब हमें कौन सी लाभ हानि की बात जाननी है। यदि तुमको जानना हो, तो तुम खेलो।"

स्त्री—"अच्छा मैं ही खेलती हूं।"

मैं—"पर तुम्हें कौन सी लाभ हानि की बात जाननी है?"

स्त्री—"पीछे बताऊंगी।"

मेरी स्त्री ने तीन बार कौड़ियां ढालीं तीनों बार वह जीत में रही। कौड़ी फेंक कर वह मेरे गले में हाथ डाल छाती में लिपट गई, और बोली,-"हम इस साल नफेमें रहेंगी" मैंने उसके गाल को चूम कर कहा-"किस बात की नफे में?"-वह बोली-"पीछे मालूम हो जावैगा"-मैंने कहा-"अभी बताओ", किन्तु उत्तर में वह दूसरी बातें करने लगी। उसकी बातोंमें मैं इतना मग्न हो गया कि पुनः बाहर न जा सका।

(३)

जी में बड़ा डर है। एक महीने की छुट्टी से तीन महीने बाद नौकरी पर आया हूं, साहब नाराज न हों। डर का कारण यही है।

पाठक गण! तीन महीने बाद आने का कारण यह है कि एक महीने की छुट्टी पुरी होते होते मेरी माता बीमार पड़ीं। ऐसी बीमार पड़ीं कि दो महीने तक अच्छी ही न हुईं। बचने का कुछ भरोसा ही न था। इसी से मेरा जाना नहीं हुआ, बीच २ में अर्जी भेजकर अपनी छुट्टी बढ़ाता गया। निदान जब अच्छी हो गईं तब मैं आया। तो भी अकेला। मेरी स्त्री को, मेरी माता ने यह कह कर रख लिया कि—"बेटा मैं अभी असक्त हूं, बहू को सेवा के निमित्त रहने दे।"

डरते २ मैं आफिस गया। साहब को सलाम किया। साहब ने सलाम लेकर कहा—"वेल बाबू, तुम आ गया। देखो

तुम्हारी १२५) की मंजूरी आ गई है। अगर बाद को और अच्छा काम मिलेगा तो १५०)तक प्रमोशन* किया जावेगा"— साहब को मैंने पुनः सलाम किया। साहब ने पूछा—"क्यों बाबू तुम्हारी मदर× तो अच्छी हो गई? 'मैं बोला जी हुजूर परमेश्वर की कृपा से अब वह अच्छी हैं"

खुशी खुशी में शाम को घर लौटा और तुरंत अपने पिता को अपने प्रमोशन की बात लिखो। स्त्री को भी अलग पत्र लिखा उसमें लिखा कि "ईश्वर की कृपा से मेरे १००) से १२५) हुए। और पीछ १५०) होने की भी आशा है। पर शोक इतना ही है, कि अगर तुम साथ रहतीं तो तुमको यह बात पत्र द्वारां न जाता, हृदय से लगा, गाल चूम कर कहता खैर।"

उत्तर मिला—"प्राण प्यारे! पत्र पाकरअति आनन्दित हुई। शोक न करिये। परमेश्वर की कृपा होगी तो मैं जब आपके चरणों का दर्शन करूँगी तो आप मेरे गाल को चूम के १२५) की खबर फिर से दुहरा देना, और १५०) की खबर अपने बच्चे का मुख चूमकर कहना।

पाठक गण आश्चर्य्य में होंगे कि जब मैं इस चिट्ठी के पाने के ८ मास बाद १ रोज १५०) की तरक्की पा खुशी खुशी आफिस से घर लौटकर आया, तो अपनी स्त्री को एक लड़का गोद में लिये देखा संग में पिता जी उसको पहुँचाने आये थे। भीतर जाकर मैंने अपनी स्त्री के गाल को, उसकी चिट्ठी के अनुसार १२५) की खबर दुहरा कर चूमा, और बच्चे के गाल को १५०) की खबर सुना कर। उसी वक्त मेरी स्त्री ने पुत्र को दिखा कर बतलाया कि "दीपावली के रात को जो मैंने जुआ में नफे की चीज पाने का अनुमान किया था सो यही है। और आपतो तिगुने नफे में रहे। पहिला १२५) दूसरा १५०) तीसरा यह पुत्र रत्न।"

"सच्च है प्यारी सच्च" कहकर मैंने उसके गुलाबी गाल को फिर भी एक बार चूम लिया।

झब्बूलाल, बिलासपुर



*तरक्की। ×माता।

समाचार

१—काशी

नवरात्र और विजयादशमी के मङ्गलमय महोत्सव प्रतिवर्ष की तरह इस वर्ष भी बड़े आनन्द से मनाये गये प्रत्येक रामलीला निर्विघ्न समाप्त हुई। दीपावली कुछ फीकी हुई, द्वितीय दिवस शनिवार को चार बजने के लगभग जिस समय कि अब के "दिवाली" का प्रधान कृत्य (नाल लेकर और देकर जो जुआ होता है) जुआ हो रहा था, सहसा दौड़ आई, और जुआरी लोग गिरफ्तार कर लिये गये। ——

२—भारत में प्रेस

हिसाब लगाने से विदित हुआ है कि भारत में कुल मिलाकर २ हजार ५ सौ ७१ छापेखाने हैं। इनमें सब प्रकार की पुस्तकें छपती हैं। कुल समाचार पत्र की संख्या ७५३ है इनमें इस साल के अन्दर सैकड़े पीछे १० बढ़ गये हैं। मासिक पत्रों संख्या १ हजार ६२ है।

३—नवीन आविष्कार

लन्दन के एक पारसी ने ऐसा यन्त्र बनाया है कि जिसमें नोट रखकर दबाने से बिजली द्वारा कुछ ऐसे बारीक चिन्ह बन जाते हैं कि बैंक और खजाने वालों के सिवा, और कोई उन्हें नहीं देख सकता और जालियों के बनाये नोट का भेद शीघ्र ही खुल जाता है। जालियों को अपना जाल बन्द करना चाहिये ॥

—:०:—

प्राप्ति-स्वीकार

महाराणा प्रताप की बीरता—वैसे तो आज तक राजस्थान केशरी राणाप्रताप-सिंह के प्रातःस्मरणीय चरित्र को अच्छे २ लेखक महाशय लिख गये हैं, परन्तु इस पुस्तक के रचियता का भाव सबसे निराला है। इसमें राणाजी के अद्भुत बीरता, धीरता, और सहनशीलता का संक्षिप्त में विवरण किया गया है। जिसका कि मूल्य केवल मात्र =) है।

माणिक—आदर्श, प्रथमखण्ड——इस पुस्तक में भारतवर्ष के तीन शूरबीरों के अद्भुत आत्मोत्सर्ग का वर्णन है। मूल्य केवल ।)

उपर्युक्त दोनों पुस्तकों के रचयिता काशी निवासी बाबू हरिदास माणिक हैं, पुस्तक हृदयग्राही और उपयोगी होने के कारण प्रत्येक हिन्दी जानने वालों को अवश्य रखना चाहिये। पता हरीदास माणिक, नं० ९४ मिश्र पुष्कर, काशी।

——:०:——

संरक्षक का संदेश

इन्दु के पुनः प्रकाशन की व्यवस्था के लिए उसके आयोजकों को हार्दिक बधाई देता हूँ। इन्दु के रूप में प्रसाद जी की प्रतिभा की जो बृहत् कला सन् ११–१२ के करीब उदित हुई थी, वह हिन्दी-साहित्य-गगन में एक अविस्मरणीय सृष्टि की तरह दमकती रहेगी और हिन्दी जगत में एक नवीन कल्प के प्रतीक के रूप में सदैव अपना अक्षय युगान्तरकारी प्रकाश बरसाती रहेगी।

आधुनिक हिन्दी कविता उसी का वर्द्धमान शोड़ष कलापूर्ण रूप है। प्रसाद जी जो स्वर्गीय राका बिखेर गए हैं आज वह नवीन शोभा-सौष्ठव एवं जीवन बोध के स्वप्नों में पुष्पित पल्लवित होकर दृष्टि को विस्मय-विमुग्ध तथा हृदय को रस विभोर कर रही है। प्रसाद जी के कर से रोपी गई इन्दु की किरण नवीन युग चेतना के ऐश्वर्य में प्ररोहित होकर नवीनतम साहित्यिक प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व कर सके– उसके दीर्घ सफल जीवन के लिये मेरी हार्दिक शुभ कामनाएं हैं।

—सुमित्रा नन्दन पंत



आ पेयस्व दिशां वत आर्जीकात्सौम मीढ्वः

ऋतवाकेन सत्येने श्रद्धया तपेसा सुत इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥

हे दिशांपते प्राच्यादीनां दिशां प्रकाशकत्वेन स्वामिन् हे मीढ्व: कामानां सेक्तेहें सोम आर्जीकात् । ऋजीकानाम् दूर भव आर्जी को जनपद: तस्मै अस्मद्यज्ञं प्रत्यागच्छ । यद्वा । आर्जीका हजोर कुटिलात् पवित्रात् क्षर कीदृश: । ऋतवाकेन ऋतस्य वचनेन सत्येन । सत्यर्तयोरल्यो भेदो द्रष्टव्य: । श्रद्धया तपसा युक्तैर्दीक्षितैः सुत: अभिषुतस्त्वं पयस्व ।

पर्जन्योवृद्धं महिषं तं सूर्यस्य दुहिताभेरत् ।

तं गंधर्वाः प्रत्येगुभ्णन्तं सोमे रसमादेधुरिनद्रायेन्द्रो परि स्रव ॥

सूर्यस्य दुहिता श्रद्धानाम । 'श्रद्धवै सूर्यस्य दुहिता' (श. ब्रा. १२-७-३-११) दूतिवाजसनेयकम् । सापर्जन्य वृद्धं पर्जन्यवत् समर्थम् । यद्वा । पर्जन्येन तत्कार्यं त्वेनोदकेन प्रवृद्धं । महिषं महान्तं पूज्यं वा तं सोभमृ आभरत् आहरत् । द्युलोकादाहृतवती । तम् आह्रियकाणं सोमं गन्धर्वा विश्वावसुप्रभृतय: प्रत्यगृम्णन् प्रत्यगृव्हणन् । प्रतिगृहीतवन्त: । हृग्रपोहोर्भ: । ततो गन्धर्वा प्रतिगृहीत रसं सोमे प्रत्यक्षं आदधु: । दघ्रातेर्लङि । स्तमात परि स्रव ।

ऋतं वदेन्नृतद्युम्नं सत्यं वदेन्त्सत्यकर्मंनु ।

श्रद्धां वदेन्त्सोम राजन्धात्रा सोम परिष्कृत इन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥

है ऋतद्युम्न ऋतेन द्योतमान सत्ययशस्क वा सत्यकर्मन् यथार्थकर्मन् हे सोम अभिषूय माण राजन् सर्वेषां यज्ञ निष्पादकत्वेन स्वामिन हे सोमे ऋतं यज्ञं वदन् सत्यं वदन् उच्चारयन् श्रद्धां यजमानानामात्मनो पेक्षितां वदन् धात्रा कर्मणां धारकेण देवानां पोषकेण वा यजमानेन परिष्कृत: अलंकृतस्त्वं इन्द्राय परि स्रव संपर्युषेम्य. इति भूषणार्थे करोने सुट् ।

—श्री ऋग्वेद: ९—७—११३

ऐन्दवी

उन्नीसवीं शती के अन्त में भारतवर्ष आंग्ल शासन के अन्तर्भुक्त हो चुका था। अपने आर्थिक अंकुश को स्थिर और दोहन को चालू रखने के लिये विदेशी सत्ता ने अवसर से लाभ उठाया। पूर्व के पिछड़े देशों के उद्धार की दुन्दुभी बजा यहां का शासन उससे छलपूर्वक ले लिया गया। इस आगन्तुक शासन के प्रति विद्रोह हुआ जो प्राय: अमानवीय उपायों से दबा दिया गया। किन्तु, विद्रोह की शक्तिधारा भारतवर्ष में फूट चली थी, उसने अन्यान्य मार्ग पकड़े, भाषा, धर्म एवं समाज की समस्त प्रवृत्तियों में क्रान्ति की एक सामान्य लहर उत्पन्न हो गई। इस शक्तिधारा के उपादान प्रायः दो वर्गों में विभक्त रहे। निर्बल और संशयग्रस्त वर्ग को सहसा और आमूल परिवर्तनों में आस्था नहीं रही। निश्चय की दृढ़ता से युक्त वर्ग की दृष्टि में आशामय भविष्य असन्दिग्ध भाव से झलकता रहा। उसके भविष्यदर्शन में अतीत का ओज और वर्त्तमान का सही निदान अपनी सम्पूर्ण संभावनाओं सहित उदित था।

भाषागत सांकर्य को विदेशी सत्ता का समर्थन प्राप्त था। किन्तु, जनचेतना ने सामान्य रूप से उसका स्वागत नहीं किया। फलत: शासन की अप्रत्यक्ष चेष्टाओं का बल पाकर भी यह सांकर्य उस समय पनप न पाया। इसका श्रेय निश्चय ही हिन्दी साहित्य के उस प्रथम सेनानी भारतेन्दु को है जिसने देखा "अंगरेज राज सुखसाज सेज सब भारी, पैधन बिदेस चलि जात यहै अति ख्वारी।" राजनीति के स्तर पर यह स्वदेशी आन्दोलन का मूलमन्त्र हुआ। इस रोग के निदान और उपचार में उन्होंने कहा "निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल" इसकी प्रतिध्वनि भी राजनीति के स्तर पर आगे चलकर हुई और गान्धीजी ने राष्ट्रभाषा के एकायनत्व का उद्योग किया। क्रान्तियां कलमसे निकल कर तलवार पर उतरती हैं। फ्रांसीसी और रूसी विप्लव इसके उदाहरण हैं। सामाजिक दोष का निदान और उसके उपचार का संकेत देना क्रान्तिदर्शी का काम है-जिसका कार्यान्वयन

राजपुरुष करते हैं। भारतेन्दु ने यही किया–अपने अध्यवसाय के मूल्यांकन की प्रत्याशा उन्हें न थी।

भाषा की उन्नति उसके मूल स्रोत बन्द करने से संभव नहीं—उसके मौलिक स्वरूप को अपरूप कर देने से ही वह प्राप्य है, अतः विदेशी सत्ता द्वारा मान्यताप्राप्त निर्बल और संशयग्रस्त वर्ग के प्रतिनिधि राजा शिव प्रसाद सितारे हिन्द से भारतेन्दु सहमत न हो सके। विरोधों की चिंता न कर समस्त कठिनाइयों से लड़ते उस वीर सेनानी ने आजीवन युद्ध जारी रखा। भाषासांकर्य के प्रति पक्षपात के अतिरिक्त दूसरा कोई कारण न था कि विदेशी सत्ता राजा साहब को प्रश्रय देती और भाषा संस्कृति के उन्नायक भारतेन्दु उपेक्षित रह जाते।

एक लम्बी अवधि–प्रायः आधी सहस्राब्दी से चले आ रहे शासन के प्रत्यक्ष प्रभाव और परोक्ष नियन्त्रण के परिवेश में संस्कृति के बदले सांचे से ढलते शब्दरूप अनायास ही अभारतीय संस्कृति के बिंब उपस्थित करते रहे। साहित्य फारसी के अधिक निकट होता जा रहा था। मध्य में पड़े एक पदव्यवधान को एक मिश्रित भाषा उर्दू के माध्यम से दूर कर शासन ने रही सही कमी भी पूरी कर ली थी। इस ऐतिहासिक सत्य से परिचित हुये बिना आज के भाषा और साहित्यपरक विवादों का सही निदान संभव नहीं। इस पर हम यथा अवसर विचार करेंगे। जाने अनजाने हमारे विचार साधन इसी ऐतिहासिक सत्य की श्रृंखला से बंधे हैं। अपनी संस्कृति के मूल उपादानों के अन्वेषण, सम्वर्द्धना और पोषण में भाषा का आभिजात्य प्रथम प्रतिज्ञा है। उन्नीसवीं शती एक ऐसा मोड़ उपस्थित करतीं थी जिसमें भाषा, संस्कृति और समाज की आधी सहस्राब्दी कुण्ठा विद्रोह की शक्तिधारा से छिन्न हो रही थी। भारतीय जनचेतना में नवीन दृष्टि उपस्थित हो कर अपने प्राचीन मूल्यों के प्रति आस्था उदित कर रही थी। भाषा के क्षितिज पर अभी विभावरी छायी रही, जिसमें तारा का आलोक भी कम महत्व नहीं रखता था। चन्द्र की तो बात ही क्या? तारा के प्रतीक में राजा शिव प्रसाद सितारे हिन्द आते हैं। किन्तु जनचेतना अधिक प्रकाश चाहती थी जिसके परिणाम में सुधामयी चांदनी विकीर्ण करते भारतेन्दु उदित हुये। भारतेन्दु राजा साहब की भांति केवल नागराक्षरों का शरीर पा सन्तुष्ट न हो सके, वे उसमें संस्कृत के माध्यम से संस्कृति के शाश्वत स्पन्दन भरना चाहते थे। आगे चल कर स्व० आचार्य महाबीर प्रसाद द्विवेदी और उनके सहचेता इसी दृष्टि परंपरा का निर्वाह करते रहे। लाला भगवानदीन का वर्ग राजा साहब की विचारधारा के निकट रहा। वे उर्दू-फारसी के शब्दों को ही नहीं उसके छन्दों में भी हिन्दी कविता का रूप स्थिर करने लगे। स्वरों का ह्रस्वीकरण और इसी प्रकार की अन्य सजातीय प्रवृतियों का वह वर्ग पक्षपाती था।

इस परिपार्श्व में हिन्दी के क्षितिज पर फैली विभावरी हटने लगी और "उषा सुनहले तीर बरसाती जयलक्ष्मी सी उदित हुई।" शतियों बाद साहित्य में स्वर्ण

विहान आया और युगान्तरकारी एवं युग प्रवर्त्तक प्रसाद ने संस्कृति की शाश्वती वीणा के तार झंकृत कर कहा "बीती विभावरी जाग री, अम्बर पनघट में डुबो रही ताराघट ऊषा नागरी।"

रूढ़िग्रस्त रहने से तब पत्रों के द्वार प्रायः ऐसे लोगों के लिये बन्द रहे जो अपने मौलिक चिन्तन के बल पर नये प्रयोगों द्वारा स्वस्थ परंपरा स्थापित करने में सक्षम थे। प्रायः सभी पत्रों के अपने लेखक वर्ग थे। तब का सम्पादक इस बात पर विशेष ध्यान देता था कि उसके लेखक अन्यत्र न लिखें साथ ही जो नई कृतियाँ उनके पत्र में जायं वे उसी रूढ़िबद्ध अनुशासन में हों जिसके वे पोषक हैं। फलतः नवीन प्रतिभाओं और प्रयोगों के लिये मार्ग दुर्गम रहा। परिणामस्वरूप इन्दु मासिक पत्र का प्रसादजी की प्रेरणा से संवत् १९६६ में श्रावण शुक्ल द्वितीया को प्रकाशन प्रारंभ हुआ। इसका अभिप्राय नई प्रतिभाओं को विकास का अवसर देना था। अपने भागिनेय स्व० अम्बिका प्रसाद की पत्रकार-वृत्ति को भी प्रसादजी समुचित सुविधा देना चाहते थे। काशी में अग्रवाल स्पोर्ट्स क्लब द्वारा भारतेन्दु नामक एक पत्र प्रकाशित होता था जिसका प्रकाशन कुछ कारणों से बन्द हो गया था। प्रसाद जी ने उसे पुनः निकालना चाहा किन्तु क्लब ने कालान्तर में उसे स्वतः प्रकाशित करने की इच्छा प्रगट की, अतएव प्रसादजी ने 'इन्दु' नाम से मासिक पत्र का प्रकाशन प्रारंभ कराया। उत्तर भारतेन्दुकालीन हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियों और प्रगति का उसकी कलाओं में पूर्ण प्रकाश हुआ है। आज के अध्येताओं को शोधसंदर्भ में इन्दु की कलाओं का अवगाहन करना पड़ता है अतः इन्दु के पुनर्प्रकाशन द्वारा उसके प्राचीन अंकों का पुनर्मुद्रण भी अभीप्सित है। नई प्रवृत्तियों और प्रतिभाओं के विकास के लिये भी माध्यम की आवश्यकता आज भी वैसे ही है। अतएव संस्कृति की शाश्वत वस्तुसत्ता से आलोकित साहित्य का प्रसार और उसकी मौलिक गरिमा, उसके चिरंतन आधारों के संरक्षण और पोषण का उद्देश्य भी इन्दु के पुनर्प्रकाशन में निहित है।

वर्तमान परिवेश में हमें चिन्ता करनी पड़ रही है कि हमारे सार्वभौम स्वतंत्र शासन की भाषानीति पूर्वगत विदेशी सत्ता की नीति का अनुकरणमात्र है अथवा वह मौलिक, गंभीर और सर्वथा अप्रभावित विचारों का तर्कसंगत परिणाम है। प्रांजल और परिशुद्ध भाषा को अव्यवहार्य और अग्राह्य ठहरा कर सांस्कृतिक पुनरुत्थान का पक्ष निर्बल हुआ या सबल इसका निर्णय करते आगे की पीढ़ियां हमें दोषी ठहरायेंगी और उन्हें अपनी मूल सांस्कृतिक चेतना तक पहुंचने में एक लंबी और कष्टसाध्य अथवा असाध्य यात्रा करनी पड़ेगी। समाज की इस निधि को ठुकरा कर उस देश और समाज के प्रति कहां तक न्याय हो रहा है जिसके उन्नयन का डिमडिम-नाद अभारतीयता के परिपार्श्व में हो रहा है? हिन्दी की आधारपीठिका संस्कृत है, जिसके सार्वशिक लोप की आज प्रत्येक संभावना अपने सम्पूर्ण बल सहित उपस्थित

है। उन्नयन का अर्थ जन साधारण के भाषाबोध और साहित्यिक संस्कारों के धरातल को ज्ञानोत्कर्ष की ओर ले जाना है, न कि भाषा के मानदंड का अवनयन।

शब्दों की परंपरा और भाषा का स्वास्थ्य निरंतर प्रयोग द्वारा ही सजीव रह सकता है। कठिन मानकर हम उन्हें छोड़ते जायेंगे तो शब्दों की उपादेयता समाप्त हो जायेगी, वे प्रचलन की वस्तु न हो संग्रह मात्र रह जायेंगे। किसी भी भाषा के माध्यम से विषय को समझने का ही उद्देश्य रहता है। भाषा साधन है और विषय साध्य। साधन की पवित्रता और बलवत्ता की भित्ति पर ही साध्य की उपलब्धि संभव है। भाषासरलीकरण के कोलाहल में उसके साध्य की उपलब्धि पर ध्यान नहीं दिया जा रहा है। विषय के अनुरूप ही भाषा होगी इस तथ्य को भूलकर हम भाषा का भी सामूहिक उत्पादन करना चाहते हैं। हमारे प्रत्येक शब्द के पीछे भावयोजना की जो शक्ति है उसके सही प्रयोग द्वारा ही विषय का ठीक अभिज्ञान हो सकता है। स्पन्द को कम्प कहने से सही भाव का आकलन नहीं होगा। भारत की प्राय: सभी भाषायें संस्कृत से उद्‌गत हैं अतः सर्वभारतीय स्तर के व्यवहार के लिये हिन्दी का संस्कृतनिष्ठ रूप ही सुविधाजनक और शुद्ध है। दिल्ली, पंजाब और उत्तर प्रदेश के कुछ पश्चिमी मंडलों तथा हैदराबाद के नागरिक वर्ग में ही उर्दू गर्भित हिन्दी का प्रचार है जिसे बड़ी सरलता से अबतक इस सर्वभारतीय आवश्यकता के अनुरूप ढाला जा सकता था; किन्तु वैसा न हुआ। कितने आश्चर्य की बात है कि हम अवनयन में ही उन्नयन देख रहे हैं। दक्षिण भारत में भी शुद्ध हिन्दी का द्वार उन्मुक्त है—विरोध के रहस्य केवल निगूढ़ राजनीतिक स्वार्थों के घात-प्रतिघात में निहित हैं, जो भारतीय समष्टिचेतना की जीवनधारा से खिलवाड़ कर रहा है। उसकी सत्ता स्वयं नहीं कृत्रिम है।

संस्कृति की इस प्रतिगामिनी अनिश्चित दशा का निदान भाषापरक उपचार का विधान करता है। पुराकाल में एक सर्वभारतीय भाषा रही, क्षेत्रीय भाषायें भी रहीं, किन्तु कहीं परस्पर विरोध न था। बिना किसी क्षेत्रीय भाषा का अहित किये सर्वभारतीय भाषा सर्वशां अविरोधेन पनपती रही। निश्चय ही भाषासांकर्य के समर्थक अपनी मूल सांस्कृतिक चेतना से दूर एवं व्यवहार तथा संस्कारों में अभारतीय हैं। अनेक देश अपनी ही भाषा और लिपि में भौतिक ज्ञान-विज्ञान की अद्यतन कोटियां प्रस्तुत कर रहे हैं; फिर यहां कौन सा अभाव है। यदि कोई है तो उसके मूल में अपने बल को निर्बलता मान बैठने की भ्रान्ति ही निहित है। विश्व सृष्टि जैसे निमित्त और उपादान के योग से प्रस्तुत है, वैसे ही धातुओं के निमित्त और उपसर्गों के उपादान से शब्द सृष्टि का क्रम है। शब्द-निर्माण का यह वैज्ञानिक सिद्धान्त आचार्य पाणिनि द्वारा नियमित किया गया। आचार्य का यह कार्य कदाचित मानवी संसृति के विकास की उस प्रक्रिया का परिणाम था जो भाव और शब्द के

स्वारस्य की दिशा में सृष्टि के आदि काल से ही स्फुरित है। भाषा का यह वैज्ञानिक सिद्धान्त हमारे शब्द-निर्माण का चिरन्तन आधार है, जिसके द्वारा भाव वृत्तियों के द्योतन निर्बाध रूप से हो सकते हैं। आज अक्षरों की पिघली धातु के सम्मुख भाषा प्रयोग के अनेक सांचे पड़े हैं–कुछ अराल और अक्षम सांचों में उन्हें ढाल कर वर्तमान और आगामी पीढ़ियों के लिये जो विद्या का कोश संग्रह हो रहा है उसके निष्क भविष्य के निकषपुर कितने खरे उतरेंगे कहा नहीं जा सकता। शती के प्रारम्भ और पूर्व में विदेशी शासन द्वारा प्रेरित भाषापरक द्विविधा क्या किंचित भी कम हुई। नहीं वह आज और दारुण बन भारत के एकायन भावना-तत्व को छिन्न कर रही है। सांस्कृतिक प्रतिगामिता का प्रमाद हमें सोमसुधा की अमर स्फूर्ति से हटा 'शीराजी प्याली' की ओर ले जा रहा है—यह चित्र भयानक है। उन्नीसवीं शती में उपस्थित राजा साहब की दृष्टि लक्ष्य के आधे मग में रुकी, नागरी वर्णों की उपलब्धि से ही संतुष्ट रही। आज हमारे प्रधान मंत्री स्वीकार करते हैं कि सर्वभारतीय प्रयोग के लिये नागरी लिपि ही उचित है—यही वैज्ञानिक है। स्पष्ट है कि पूरी शती में हमने इस दिशा में कोई सामूहिक प्रगति नहीं की—अपने देश में अपना राज्य हो जाने पर भी इस दिशा में हम वहीं खड़े हैं जहां उन्नीसवीं शती में राजा साहब पहुँच चुके थे। क्या हमारे सांस्कृतिक पुनरुत्थान और राष्ट्रीय जागरण का उदाहरण बन सकता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के अनंतर भाषा के उन्नयन की सामान्य राजकीय उदासीनता के परिवेश में भी जनसामान्य का शब्दज्ञान-स्तर उन्नत हुआ है। विदेशी सत्ता से राजनीतिक मोक्ष का यह एक स्थूल परिणाम था, जो निष्प्रयास और सहजभाव से हुआ। किन्तु, रचना शिल्प और भावसंयोजन से आलोकित शब्दवैभव के प्रयोक्ता क्या वैसी निखार और उपज कर सके जो समष्टि चेतना का प्राप्य था? नहीं। राजनीति के सिद्धांत-घोषों में वैशिष्ट्य लुप्त होते गये। शब्दशिल्प में भाव गुंफन करने वाला क्रान्तदर्शी भी इस प्रतिगामिता का दोष सामूहिक कुंठा के माथे मढ़ चुप हो गया। राज्याश्रय के अभाव और शासन की उपेक्षा में भी साहित्य की जो कोटियां स्थापित हो चुकी थीं, भारतेन्दु और प्रसाद युग की जो उपलब्धियां समाज की निधि बन चुकी थीं, उस श्रृंखला में हमने कैसी और कितनी कड़ियां जोड़ीं? हमें इन प्रश्नों के समाधान ढूंढ कर हल निकालने होंगे।

चिन्तन और कलाओं के विभिन्न प्रस्थानों की विशिष्ट मीमांसा प्रस्तुत करते सार्वभौम प्रेम और समष्टिमन की अन्तर्ज्योति का विकिरण-इन्दु के प्रकाशन से संभव हो--हमारी इन्दुशेखर से यह प्रार्थना है।

—:—:—

महाकवि 'प्रसाद'

ले०—विश्वम्भर नाथ जिज्वा

धूप छांह के खेल-सदृश यह जीवन बीता जाता है ।
समय जागता है प्रति क्षण में,
नव अतीत के तुषार-कण में,
हमें लगा कर भविष्य-रण में, आप कहां छिप जाता है ?
('प्रसाद'जी)

काशी के सुप्रसिद्ध साहित्यिक बाबू जयशंकर प्रसाद यद्यपि अब इस नश्वर जगत में नहीं हैं, पर हिन्दी जगत में उनकी कीर्ति और स्मृति सदा अमर रहेगी । वे उन दुर्लभ विभूतियों में थे जो इस अवनीतल पर किसी का कुछ लेने नहीं अपितु अपना कुछ देने आते हैं । उन्होंने नि:स्वार्थ सेवा भाव से जो कुछ भी दिया उससे निश्चय ही साहित्य का भंडार बढ़ेगा, और साहित्यसेवियों का सदा ही हित होगा । उनकी सेवा और अर्चना से मातृभाषा एवं मातृभूमि दोनों ही धन्य हुई हैं ।

उनके सम्बन्ध में यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि वे अपने मृत्युहीन प्राण के साथ जो कुछ भी गुण-प्रसाद लाए, वह सब उदाहरण-पूर्वक वे दूसरों के लिये छोड़ गये । वे जीवन और मृत्यु दोनों ही में महान् थे । उन्हें स्वयं कभी किसी कीर्ति या प्रतिष्ठा की कामना नहीं हुई, पर साहित्य जगत ने अपने नर-रस की कृतियों को समझा, परखा और उन्हें सर्वोच्च सम्मान प्रदान किया । प्रसाद जी की अन्तिम अनुपम रचना 'कामायिनी' के लिए उन्हें हिन्दी साहित्य जगत का सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार (१२०० रु० का) मिला, इस तरह साहित्य जगत ने उनका और अपना भी गौरव बढ़ाया, साथ ही उसने यह भी दिखा दिया कि वह अपने अमर महाकवि को कभी न भूलेगा ।

प्रसाद जी एक उच्च कोटि के विद्वान और प्रखर प्रतिभाशाली पुरुष थे । उनकी भावपूर्ण विचारधारा मौलिक थी, और उनमें सत्य ज्ञान की एक ऐसी अलौकिक ज्योति थी कि उसका असर दूसरों पर भी पड़ता था ।

वे कवि थे, और कवि से बढ़ कर सिद्धरस्त कलाकार थे। उनकी प्रतिभा सर्वतोन्मुखी थी, इस कारण गद्य और पद्य दोनों पर उनका समान अधिकार था। उन्होंने रोचक कवितायें लिखने के अतिरिक्त कहानी, नाटक, उपन्यास, इतिहास आदि सभी क्षेत्रों में अपनी लेखनी का चमत्कार दिखाया। इस कारण कितने ही विद्वान लेखकों ने उनकी तुलना महाकवि रवीन्द्र नाथ ठाकुर से की है, क्योंकि रवि ठाकुर की ही तरह प्रसाद जी ने भी साहित्य के सभी अंगों की पूर्ति की है।

इन पंक्तियों के अंकिचन लेखक की प्रसाद जी से दीर्घ काल से घनिष्ठ मैत्री थी, और उनके साहित्यिक तथा सामाजिक जीवन, और उनके गुणों को देखने का यथेष्ट अवसर मिलता था। वे कोई साधारण विद्याप्रेमी नहीं थे। वे जिस विषय पर लेखनी उठाते, उसे पूर्ण विचार और अधिकार के साथ लिखते थे। 'चन्द्रगुप्त' नाटक लिखते समय उन्होंने, ग्रीक पुस्तकों के अंग्रेजी अनुवाद का कितना गहन अध्ययन किया था। एक बार ऐसा इत्तिफाक हुआ कि मैं रात को दो-तीन बजे उनके घर पहुंच गया, और बाहर गली से देखा कि उनके ऊपर वाले बड़े कमरे में रोशनी जल रही थी। मैंने आवाज दी—"बाबू साहब !' उन्होंने ऊपर से कहा—"चले आओ।"

मैं जब ऊपर उनके कमरे में गया, तो देखता हूं, कि वे बड़े-बड़े तकियों में धंसे हुए, कुछ आधे लेटे से हैं। उनके सामने अंग्रेजी के कई मोटे मोटे ग्रन्थ खुले पड़े थे। कुछ अन्य पुस्तकें एक ओर बिखरी थीं। मेरे पूछने पर उन्होंने कहा—"देखो जी, चन्द्रगुप्त के बारे में इन ग्रीक इतिहासकारों के क्या विचार हैं ?......"

मैं अभी तक बैठा नहीं था। केवल खड़ें-खड़े कुछ हर्ष और आश्चर्य से उन्हें देखता रहा पर यह कहे बिना मुझसे नहीं रहा गया—"आप इतनी रात तक पढ़ रहे हैं—अभी, सोये नहीं ?"

वे हंस कर रह गये, पर रात के जागरण से वे कुछ थके हुए से लगते थे। नेत्र जैसे गहरे नशे में डूबे हुए थे, और गोरा सुन्दर मुख मण्डल जैसे गम्भीर चिन्तन से सहसा जागा था।

वे कुछ प्रसन्न भाव से भारतीय और ग्रीक इतिहासकारों की तुलनात्मक आलोचना करते रहे।

प्रसाद जी की प्रकृति और मनोवृत्ति कुछ ऐसी कारुणिक कोमल थी कि वे थोड़ी भी दुर्भावना या कटुता सहन नहीं कर सकते थे। कुछ 'रिजर्व' स्वभाव के अनूठे व्यक्ति थे, और अज्ञात या अपरिचित मनुष्यों से जल्दी बेतकल्लुफ़ नहीं होते थे। उनकी प्रकृति में कुछ ऐसा कोमल संकोच भाव था—वह चाहे उनका गुण हो या दोष-पर वे कभी आगे बढ़ कर, या अपने को प्रदर्शन में लाकर काम करना पसन्द नहीं करते थे। सार्वजनिक स्थानों या सम्मेलनों में जाते, पर दूर रहते, भीड़ के मनुष्य

नहीं बनते थे। रोमाँ रोला (फ्रेन्च दार्शनिक) या कवीन्द्र रवीन्द्र की तरह वे गरमी और गर्द से दूर भागते, और किसी भी स्वाभिमानी नरेश की तरह समस्त विवादों से परे रहते थे। समालोचकों को उत्तर न देते और विरोधियों से तर्क न करते। उनके पक्ष और विपक्ष में कितनी ही बार लेख लिखे गए, पर उन्होंने सदा उपेक्षाभाव रखा। अनेक बार सार्वजनिक संस्थाओं और महासम्मेलनों में उनसे सभापति होने के लिए प्रार्थना की गई, पर उन्होंने सदा ही सधन्यवाद उनसे अपना पीछा छुड़ाया।

एक समय था, जब प्रसाद जी भी बड़ी विलासिता और शौकीनी के साथ रहा करते, घर में गाड़ी घोड़े थे, कीमती से कीमती विलायती वस्त्र पहनते। घर के शिव मन्दिर में नाच-गाने भी होते, मित्रों की दावतें होतीं, पर उस समय भी उन्होंने कभी कुमार्ग का अनुसरण नहीं किया। उनका घरेलू और बाहरी जीवन बिल्कुल निष्कलंक पवित्र था। सभी तरह के लोग उनसे मिलते, पर वे किसी से न मिलते थे। अनेक सज्जनों के मध्य में बैठे हुए, वे जैसे सबसे अलग एक राजकुमार से लगते थे।

प्रसाद जी का सामाजिक और धार्मिक जीवन यद्यपि प्राचीन परम्परा से पूर्ण था, पर वे युगधर्म के साथ चलना जानते थे, और नवीन सुधारों को पसन्द करते थे। वे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में पूरी दिलचस्पी लेते। लेनिन के सोवियत रूस और उसके साम्यवादी सिद्धान्तों को वे अच्छी तरह जानते और इटली के मुसोलिनी और जर्मनी के हिटलर के फासिस्टवाद और नाजीवाद से परिचित थे। सन् १९१९ में प्रथम विश्वव्यापी महायुद्ध के समाप्त होने पर (ब्रिटिश उपनिवेश) दक्षिण अफ्रीका के प्रधान मंत्री जनरल स्मट्स ने कहा था—"Humanity has beaten its tenets, and is once more on the march."

इस पर प्रसाद जी ने हंस कर कहा—"इस 'ह्यु मेनेटी' का मतलब समझे ?" मैंने कहा—"क्या ?"

प्रसाद जी के हाथ में उस समय अंग्रेजी का "लीडर" पत्र था। उन्होंने जनरल स्मट्स के उस वाक्य को विनोदपूर्ण मुद्रा से पढ़ते हुए कहा—"इसका मतलब गोरों की 'ह्यु मेनेटी' से है। बेचारे कालों में 'मार्च' करने की कहां शक्ति है।"

ब्रिटिश प्रधान मंत्री लायड जार्ज, भारत मंत्री मि० मान्टेगू, अमेरिकी राष्ट्रपति उडरो विल्सन, फ्रेंच प्रधान मंत्री क्लीमेन्सू और प्रधान सेनापति मार्शल फाश आदि के मन्तव्यों और हथकंडों पर प्रसाद जी व्यंग्यात्मक टीका-टिप्पणियां करके हँसते-हँसाते थे। चीन में उस समय जापान की बड़ी उग्र आक्रामक नीति थी, और भारत के प्रायः सभी राष्ट्रीय और अन्य समाचारपत्र जापान को कोसते थे, इस विषय पर प्रसाद जी जापानी नीति के कुछ पक्षपाती थे। मैंने कुछ चकित भाव से कहा—"आप ही

एक ऐसे व्यक्ति मिले जिसने जापान के पक्ष में इतनी बातें कहीं। यह मुझे नहीं मालूम था कि आप जापान के इतने पक्षपाती हैं।"

उन्होंने जैसे कुछ झुंझला कर कहा,—"नहीं, मैं जापान के पक्ष में कुछ नहीं कह रहा हूँ। एशिया के भविष्य का ध्यान करो, जब पूर्व और पश्चिम का महायुद्ध होगा तो उस समय एशिया की लड़ाई लड़ने वाला कौन होगा ?......"

किन्तु अब का जापान तब से बहुत भिन्न है। आज जापान द्वितीय महायुद्ध में हारा हुआ, अमेरिका के प्रबल चंगुल में फंसा हुआ है। किन्तु, साथ ही पूर्व-पश्चिम के आगामी संग्राम का मानचित्र भी तब से आज बिल्कुल बदला हुआ है। अब जापान का स्थान, विशाल सोवियत रूस के साम्यवादी तंत्र ने ले लिया है। किन्तु स्मरण रहे कि तबका साम्राज्यवादी जापान भी पश्चिमी राष्ट्रों का ऐसा प्रबल विरोधी नहीं था जैसा कि आज सोवियत रूस है, जिसका प्रभाव जापान से कहीं अधिक आज पूर्व और पश्चिम की कूटनीति में फैला हुआ है। परिस्थिति अब कुछ परिवर्तित रूप में प्रायः ज्यों की त्यों है।

आज अन्तर्राष्ट्रीय शतरंज (क्यूबा से वियतनाम तक) को देखकर प्रसाद जी की एक भविष्यवाणी तो बहुत याद आती है, जो उन्होंने भारत को लक्ष्य में रख कर की थी। उन्होंने कहा था—

"नेपाल और भूटान की सीमाओं को चीरती हुई, और पर्शियन गल्फ (ईरानी खाड़ी) से भी शत्रु की फौजें और जंगी बेड़े लड़ने आयेंगे।"

मैंने पूछा—वह शत्रु कौन होगा ?

उन्होंने कहा—"हम यह नहीं कह सकते कि वह शत्रु कौन होगा। पर उस महा-युद्ध में भूमध्य सागर और स्वेजनहर भी अंग्रेजों के लिये बन्द हो जायगी, और एटलान्टिक तथा पैसिफिक सागरों में घमासान विश्वव्यापी महायुद्ध होगा।......"

ये बातें अनेक वर्षों पूर्व की है, किन्तु आज अणु बम, उद्जन बम आदि की जटिल अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति क्या कुछ कह रही है ? भारत यद्यपि स्वतंत्र है, पर क्या साम्यवादी चीन का भारत की सीमा तक चढ़ आना ब्रिटेन के लिये भी चिन्ता का विषय नहीं है ? तभी तो चीन का आक्रमण होने पर ब्रिटेन और अमेरिका ने भी भारत को शस्त्रों से सहायता देने में विलम्ब नहीं किया। क्योंकि चीन के द्वारा साम्यवाद का भारत की ओर अग्रसर होना पश्चिमी राष्ट्रों के लिये सबसे बड़ी चिन्ता का विषय है।

अमेरिका के बारे में प्रसाद जी कीं कभी अच्छी राय नहीं थी। वे यह कुछ जोर के साथ कहते कि 'अमेरिका ऐन वक्त पर मानव जाति को धोखा देगा।'

प्रसाद जी देशभक्त होते हुए कुछ अन्तर्राष्ट्रीय भावना के व्यक्ति थे। भारतीय नेताओं में वे लोकमान्य तिलक के अधिक भक्त थे, महात्मा गांधी को भी मानते थे, पर अनेक राष्ट्रीय प्रश्नों पर वे गांधी जी के साथ बहुत दूर तक जाने के लिये तैयार नहीं थे। किन्तु कुछ भावुक होकर कहते कि "इस मनुष्य में लेनिन की तरह अन्तर्राष्ट्रीय भाव कुछ अधिक हैं। देखो न संसार के सभी देश उन्हें (गांधीजी को) अपना नेता बनाना चाहते हैं……।"

एक बार महात्मा गांधी अपनी इंग्लिश शिष्या मीरा बेन (मिस स्लेड) के साथ काशी में श्री विश्वनाथ जी का दर्शन करने गये थे। इसके बाद काशी के कुछ कट्टरपन्थियों ने गांधीजी के विरुद्ध भद्दे और निन्दनीय तरीके से प्रदर्शन किया था। इस सम्पूर्ण प्रसंग पर प्रसाद जी बहुत असन्तुष्ट हुए, उन्होंने दुःख भरे लहजे में कहा—"यह लोग (याने कट्टरपन्थी) दीर्घकाल तक गुमराही में पड़े रहेंगे।"

प्रसाद जी को वैदिक धर्म और संस्कृति से विशेष प्रेम था। प्राचीन ऋषियों को वे संसार का सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक कवि मानते थे। बुद्ध और शंकर के दार्शनिक स्रोतों के सुधारस का उन्होंने छक कर पान किया था, और स्वामी दयानन्द, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ प्रभृति महात्माओं की ज्ञान-गरिमा का भी उन पर पर्याप्त प्रभाव था। वे भारतीय सभ्यता और संस्कृति के सदा अनुयायी रहे। वे दार्शनिक कवियों और ज्ञानियों की सभा की प्रथम पंक्ति के नररत्न थे।

एक दिव्य देवपुरुष की तरह वे शान्त, गम्भीर, निश्छल और निर्विकार थे, और स्वयंसिद्ध सन्त की तरह वे सन्तोषी और विरागी दोनों ही मालूम होते थे। उनकी काव्यमयी कल्पना अनन्त नक्षत्रों के प्रस्फुटित प्रकाश पुंज को पार करके उस भावमय जगत में विचरण किया करती थी, जहां केवल अखंड शान्ति और पवित्र प्रेम है। उनका प्रेम असीम, अनन्त और विश्वव्यापी था, और 'वसुधैव कुटुंबकम्' सिद्धान्त के अनुसार वे पूर्ण विश्वप्रेमी थे।

प्रसाद जी की ये पंक्तियां कैसी याद आती हैं—

"इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना।

किन्तु पहुंचना उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं।"

प्रसाद जी यद्यपि चले गये, पर प्रसाद जी साहित्य जगत में सदा जीवित रहेंगे।

–:o:–

स्व० काशी प्रसाद जायसवाल की/एक अपूर्ण कृति—

हिन्दू जाति का इतिहास

(आरम्भिक सात अनुच्छेद)

इस देश के स्वामी, हमारे पुरखों ने अपने इतिहास को दो हिस्सों में बाटा है। काल की अनन्तता में अपनी जाति की उम्र का हिसाब लगाने के लिये हमारे पुरखों ने एक लकीर खींच दी है और वह लकीर महाभारत की लड़ाई है। उन पूर्वजों ने महाभारत की लड़ाई को एक टेक माना है, जिसके पहले के इतिहास को अलग रक्खा और बाद के इतिहास को पृथक् ग्रथित किया। यह शैली पुराणों में पाई जाती है।

आजकल के ऐतिहासिक भी दुनियाँ की बड़ी-बड़ी लड़ाइयों से युगान्तर मानते हैं। नए समय और नए दिन की गिनती गिनते हैं। लड़ाई ईश्वर की संहारक क्रिया है—भविष्य का नया बीज बोना है। संसार कुछ दिनों तक एक ही सा चलता रहता है। जब उसे कलेवर बदलना होता है तो वह युद्ध का आश्रय लेता है। इसी तरह हमारे पूर्वज ऐतिहासिकों की समझ में महाभारत से एक नई दुनियां शुरू हुई।

महाभारत-युद्ध के पहिले का इतिहास समझने के लिये और उसे इस समय के अनुरूप भाषा में लिखने के लिये लेखक अभी सक्षम नहीं। महाभारत-युद्ध के इधर का इतिहास कहा जा सकता है, जिसे वह नीचे सुनाता है—

विन्ध्य पर्वत और नर्मदा के उत्तर-पूर्व, बंगाल की खाड़ी तक और हिमालय के नीचे कश्मीर और काबुल के पहाड़ों से ले, आसाम के सीवान तक आर्य जाति—हमारे पुरखे—निवास करते थे। यहीं के ब्राह्मणों को आजकल पंच-गौड़ कहते हैं और यहीं की भाषा आज भी संस्कृत से निकली हुई बोलियों का समुदाय है। दक्षिण की भाषा भिन्न है, जिसे हमारे यहां द्रविड़ कहते हैं। द्रविड़ भाषा के मुख्य दो अंग हैं—एक को तामिल और दूसरे को तेलगू कहते हैं। तमिल और द्रविड़ एक ही शब्द है। जैसे दक्षिण की भाषा पृथक् है वैसे ही वहां के आदमियों का रंग रूप भी उत्तर के लोगों से अलग है। किन्तु दोनों जातियों में अब भेद सिर्फ नाम का है और इस समय हिन्दू जाति के शरीरीभूत उत्तर और दक्षिण दोनों हैं। अतएव हिन्दू शब्द

आर्य शब्द से महत्तर है--उसमें विन्ध्य-नर्मदा के उत्तर वाले आर्य और दक्षिणापथ के द्रविड़, दोनों शामिल है। इसी कारण मैं आर्यों का इतिहास न लिख कर हिन्दुओं का इतिहास लिखता हूं।

हमारी जाति के शरीर में यदि द्रविड़ रक्त का प्रवाह न होता तो वह भी ग्रीक, पार्सी आदि दूसरी आर्य निःसृत गोरी जातियों की भाँति आज विलुप्त हो गई होती। आर्य द्रविड़ के इस मेल को हमारे पुरखों ने ऐसा अपनाया कि अपने ईश्वर के मनुष्य-अवतारों का रंग द्रविड़ ही रक्खा। राम कृष्ण और बुद्ध तीनों को सांवला ही बताया। यहां वह याद दिलाने की आवश्यकता देखता हूं कि महाभाष्यकार पतंजलि ने ब्राह्मण को गोरा, उसके बाल सुनहरे और आंखें पिंगल, अर्थात् नार्वे-स्वीडेन के आदमियों के समान बतलाया और गोपथ ब्रह्मण ने वैश्य तक को एकदम सुफेद कहा है।

सुफेद जातियों का दौर दौरा बढ़ता है, पर यह चिरस्थायी देखने में नहीं आता। आजकल के ऐतिहासिकों के लिये यह एक समस्या और पहेली है कि भारत और चीन को छोड़, किसी भी पुरानी जाति ने इतनी उम्र क्यों न पाई। कारण एक से अधिक होंगे पर मुख्यतया मेरी समझ में हमारी जाति का स्यामल-गौर-सरीर है। यमुना-गंगा के संगम सरीखे इस अनन्त और अनश्वर रूप को सहस्र बार नमस्कार है।

नोटः—

(क)

१६१९ ई० की शरद में स्व० काशी प्रसाद जायसवाल, मन्सूरी में मेरे अतिथि हुए। स्व० अजमेरी जी, स्व० एस० पी० (शिवलाल पानाचन्द) शाह, आई० सी० एस० तथा भाई मैथिली शरण पहले से ही वहां मेरे साथ ठहरे थे।

इस प्रकार एक बड़ी ही प्रिय, सहृदय एवं सजीव मण्डली वहां इकट्ठी हो गई थी। और उन अविस्मरणीय १५-२० दिनों के बीच जैसे आनन्दप्रद, मनोरंजक, रोमाञ्च और अप्रत्याशित अवसर उपस्थित हुए, उनके स्पन्दित शब्द-चित्र खड़ा कर देने का अतुल्य सामर्थ्य अजमेरी जी अपने संग ले गए। अब तो 'प्रसाद' के शब्दों में--'वे कुछ दिन भी क्या सुन्दर थे' वह कहकर ही हृदय की टीस मिटाना भर हाथ है।

उन्हीं दिनों भाई मैथिली शरण ने जायसवाल जी से अनुरोध किया कि आप प्राचीन भारत का एक इतिहास हिन्दी को दीजिए। उन्होंने उत्तर दिया कि इतिहास तो ऐसा दूं कि अंग्रेजी के अच्छे से अच्छे इतिहास फीके पड़ जायँ। किन्तु अपने हाथ से लिखना कठिन है। मैं ऋषियों की तरह लिखूंगा—यदि तुम लोग मेरे गणेश बनो तो मैं लिखा दूं।

इससे बढ़कर प्रसन्नता का विषय क्या होता। हम दोनों ने ललक कर उनका प्रस्ताव स्वीकारा और कहा—अब विलम्ब केहि काज—शारदीय नवरात्र के दिन थे। उन्होंने तत्काल बोलना शुरू किया और मैंने लिखना। स्कूली-कापी-साइज के तीन पेज और चौथे पेज की ७ पंक्तियाँ मैंने लिखीं और उनके बाद की डेढ़ पंक्ति भाई मैथिलीशरण ने। बस वहीं यह काम रुका सो रुका।

अभी उस दिन, पुराने कागद-पत्रों में वे साढ़े तीन पेज सामने आए, तो उचित जान पड़ा कि ये प्रकाशित कर दिए जायं, क्योंकि इतने से नमूने से ही इस बात का परिचय मिल जाता है कि पूरी होने पर यह कृति कितनी महत्वपूर्ण होती।

आज इसे प्रकाश में लाते हुए हमारी दशा व्यक्त करने के लिये भाई मैथिली शरण की यह पंक्ति ही समर्थ है—

एक आँख आनन्द-पूर्ण है, एक आँख शोकाश्रु-घटा।

(ख)

हमें यह न भूलना चाहिए कि यह एक खर्रा मात्र है, सो भी बोल कर लिखाया हुआ। स्वभावतः इसमें खंडहर हैं। जायसवाल जी जब इसे दुहराते तभी इसका निखरा रूप तैयार होता। फिर भी जैसा-कुछ वह लिखा गए, उसमें दो बहुत ही महत्वपूर्ण तथ्य व्यक्त हुए हैं, जिन्हें बहुत इधर कई विद्वानों ने दुहरा कर अपने आपको इन तथ्यों का सापेज्ञ जताया है और दुनियां भी उन्हें इसी आंख से देख रही है, जब कि वस्तु—स्थिति यह है कि इन तथ्यों के द्रष्टा हैं जायसवाल जी—

एक तो, उन्होंने यह बात कही है कि भारत की संस्कृति एवं इतिहास, आर्य तथा द्रमिल (द्रविड़) प्रजातियों का संश्लिष्ट निर्माण है और यही कारण है कि यह निर्माण चिरंजीवी है।

दूसरी यह कि, उक्त कारण से ही हिन्दू शब्द आर्य शब्द से अधिक महत्व का है—वह उस महाप्राण प्रजाति का वाचक है जो उक्त दोनों रक्तों के संयोग से निर्मित हुई है।

—रामकृष्ण दास

—:०:—

आसन तेरे अमोल कपोल
मनोरथ को तेहि पै बिठलायो
नैन के आसव चारु गुलाबी छकाय
कही मतवालो बनायो
कुंतलदाम में फांसि के ताहि
भले बिधि ही पुनि नाच नचायो
बाहर जान न पावत रूप
रहै अंग में औ परै उफनायो
... ...
कीन्हीं कठोरता जो हमते तऊ हाय की हूक हिये
रहि जायगी—दीठि बचाय के फेरत जो रुख
तौ हू कबौं न कबौं मिलि जायगी
नीकौं बिचार लये मन माँहि कलाधर हू की
कला घटि जायगी—प्रेम के राह को छोड़िबे की
सिल तेरी निसानी हिये घटि जायगी
... ...
तोरि के नेह को काचो तगा तुम कीन्हीं दगा
यह नीक ना कीन्हीं—जो यह तेरे रही मन
माँहितो क्यों पहिले ही नहीं कहि दीन्हीं—
नैन की हाला छकाय बेहाल कै फेरि
ले कुन्तल में कसि दीन्हीं
बेबस कै के कलाधर कौ दिल दागि के
काहे प्रिये तजि दीन्हीं

'प्रसाद' जी के अभिलेख का पाठ।

[illegible]

द्वितीय खंड

कामायनी की अन्तर्धारा

(चिन्ता सर्ग)

चिन्ता तरंग तरलस्तृष्णासलिलः प्रपंचवाराशिः ।
यदनुग्रहेणतीर्णस्तस्मै श्रीनाथ नाविकाय नमः ।।

कामायनी की कथा मानवी संसृति का प्राणिक और मनोवैज्ञानिक इतिहास प्रस्तुत करती है। मानवता के प्रजनन और विकास की इस भावमयी और श्लाघ्य कथा के माध्यम से, प्रस्तुत में अप्रस्तुत बिम्ब देने का उद्देश्य क्या है ? प्रस्तुत इतिहास की वह शिला है जिस पर संसृतियों के गम्भीर पद चिन्ह अंकित हैं। उन पद चिन्हों को अप्रस्तुत अपनी प्रेरणा मात्र से व्यक्त कर लेता है। अप्रस्तुत आत्मा की वह "संकल्पात्मक अनुभूति" है जिसके रूप ग्रहण की चेष्टा में प्रस्तुत साकार होता है। इतने व्यापक और ऐसे विशद किसी अन्य कथानक की कल्पना भी संभव नहीं जो अपने आयाम में ऐसी प्रस्तावना ग्रहण कर एक सार्वभौम अभिव्यक्ति को सार्वायुष बना दे।

मानवी संसृति के आदपुरुष मनु अर्थात मन के उदय से यह कथा प्रारम्भ होती है और जहां अपनी सम्पूर्ण उपलब्धि में मन आत्मचैतन्यमयी लयावस्था प्राप्त करता है वहां कथा की विश्रान्ति है। मन की एक विशिष्ट अवथा और उसका पर्याय संकल्प है[1]। आत्मा की संकल्पात्मिका किंवा मनोमयी अनुभूति-लहरी से उदित रूप ग्रहण की चेष्टा में क्रीड़ा के विकल्पात्मक प्रतीक साकार होते हैं[2]। अरूपी के रूप ग्रहण का परिणाम ही यह "मूर्त्त विश्व सचराचर" है।

१—मनः संकल्प उच्यते—स्वच्छन्दतन्त्र
२—मनोकृतेनायत्यस्मिन्शरीर

मानव-जीवन को सफल लोक-यात्रा का मार्ग दिखा सर्वसुलभ और सहज रीति से परम-लक्ष्य की उपलब्धि का उपाय बताना इस कहानी के माध्यम से उद्दिष्ट है। निश्चय ही किसी अन्य कथापीठिका के माध्यम से ऐसी महत्तम परिकल्पना की प्रस्तावना शक्य न थी।

परम-लक्ष्य और उसकी उपलब्धि के स्वरूप और लक्षण की मीमांसा अपने में एक स्वतन्त्र विषय है। किन्तु, प्रस्तुत प्रसंग उसके संक्षिप्त पर्यालोचन का अनुरोध करता है। लक्षण से लक्ष्य का अभिज्ञान होता है। किन्तु यह परम-लक्ष्य है अतएव समस्त लक्षणों का अधिष्ठान ग्रहण करता यह लक्षणातीत भी है, कारण, वैशिष्ट्य का केन्द्र उसकी (लक्ष्य की) पारमिता है न कि लाक्षणिकता। अतः लक्षण गौंड़ है। परम-लक्ष्य लक्षणों का अधिष्ठान ग्रहण कर विश्वात्म और लक्षणातीतावस्था किंवा शुद्ध पारमिता में विश्वोत्तीर्ण है। विशिष्ट इयत्ता सम्पन्न होने से विश्व लक्षण-भाव पर्यवसित है, जिनसे अतीत और सम्पृक्ति के उभय भाव परम-लक्ष्य में निहित है।

काश्मीरीय त्रिक् परम्परा परमसत्ता को विश्वोत्तीर्ण और विश्वात्म दोनों ही मानती है जिसकी नित्य-लीला में विश्व का उन्मीलन-निमीलन होता है। जगत के नित्य परिर्वात्तित होने वाले रूप उसी नित्य-शक्ति के स्फुरण हैं।

चिति का स्वरूप यह नित्य जगत
वह रूप बदलता है शत शत

इस प्रकार परम-लक्ष्यभूता महासत्ता लक्षणों की उदितावस्था में विश्वमयी और उनकी लीनावस्था में विश्वोत्तीर्णा है। अक्षर-महा-क्षण के स्पन्द वाली देश-कालातीत कामायनी में यह अन्वित और सिद्ध हैं जिससे परम-लक्ष्य का स्वरूप स्पष्ट होता है और उसकी उपलब्धि संभव है। विश्व को स्थूल जीवन की समृद्धिमयी पूर्णता एवं उससे भी ऊपर उठ कर नित्यानन्दमयी स्वमात्रता में स्थिति, दोनों ही चाहिये। किसी भी एक भाव का निषेध पूर्ण में खण्ड प्रस्तुत करता है इसीलिये परम-लक्ष्य विश्व की मांसल उपलब्धियों और चैतन्यमय आनन्द के अभेदमय निरवधि-विलास की एक समवेत ख्याति है। कामायनी में जब पाषाणी प्रकृति मांसल अर्थात्

स्फीत, समृद्ध और पुष्ट हो विश्व-चेतना किंवा समष्टि मन के सम्मुख कल्याणी रूप में उदित होती है तभी चैतन्य के विलास में अखण्ड आनन्द उपस्थित होता है। विश्वात्म और विश्वोत्तीर्ण दोनों की समरसीभूतावस्था में ही जीवन धन्य और सफल है।

मांसल सी आज हुई थी हिमवती प्रकृति पाषाणी
चेतनता एक विलसती आनन्द अखण्ड घना था

कुछ लोग कामायनी में वेद आगम आदि के निगूढ़ रहस्यों के स्फुरण द्वारा प्राचीनता का प्राधान्य देखते उसमें प्रस्तुत सार्वयुगीन प्रश्नों और उनके समाधानों को महत्व नहीं देते। कुछ, शाश्वत तत्वदृष्टि, चिन्तन और अनुभूति की वस्तुसत्ता को ग्रहण करने में असमर्थ हो उसे अवास्तविक मान कर अपने पौरुष की लाज बचाते हैं। किन्तु, सामंजस्य, समन्वय और सर्वोपरि सामरस्य की आधारशिलाओं वाली कामायनी का सम्पूर्ण स्वरूप-दर्शन किसी भी एकांगी दृष्टि से शक्य नहीं।

कामायनी के कतिपय स्थल यथा—"पुरातनता का यह निर्भीक सहन करती न प्रकृति पल एक" अथवा प्रकृति के यौवन का श्रृंगार करेंगे कभी न बासी फूल" आदि पाकर आधुनिकवाद की ही अवतारणा कुछ लोग सिद्ध करते हैं। किन्तु यह भी तो देखना होगा कि प्रकृति के स्वरूप, स्तर और स्थितियां किन किन दशाओं में वर्णित और अंकित हैं तथा प्रकृति के अतिरिक्त भी अन्य स्तर और स्थितियां हैं जो निर्मोक और कंचुक से परे हैं। तथा च, प्रकृति अपने राज्य में निर्मोक परिवर्त्तन तो किया करती है किन्तु निर्मोकी पर उसका क्या प्रभाव ? सत्ता निर्मोक में निहित है या निर्मोकी में ?

चिरन्तन-विश्व-मर्म के संस्पर्श द्वारा उसकी भावमयी अभिव्यक्ति और उस मर्म के केन्द्र मन का विभिन्न-वृत्तिपरक रूपकात्मक अंकन कामायनी के मूल सौन्दर्य का रहस्य है। शाश्वत सत्य की यह दीप्ति कामायनी का वह विशिष्ट आलोक है जो प्रतिपद सर्वथा नवीन रहता है। इसे आधुनिकता की सीमा में बांधना कहां तक उचित है कारण आज का आधुनिक कल का प्राचीन हो जाता है, किन्तु जो शाश्वत और चिरन्तन है वह

सर्वथा नवीन ही है। विषय-वस्तु के देश-कालातीत होने से प्राचीनता का भी प्रश्न कहां। यह हमारी आपेक्षिक दृष्टि के परिणाम मात्र हैं। अतएव आधुनिकता या प्राचीनता देखने से अधिक समीचीन उसकी शाश्वती दृष्टि की समीक्षा है। काव्य की दृष्टि जगत के स्थूल स्तरों की उपेक्षा नहीं करती, इसीलिये उसके भी समाधान प्रस्तुत हैं। अवश्य ही कुछ बात इसके आगे की भी कही गई है जहां प्राचीनता, नवीनता, निर्मोक आदि के प्रश्न शान्त और समाहित हो जाते हैं वह स्थिति वास्तविक रूप से नित्य नवीन और शुद्धभाव से शाश्वत है जहां पहुंचने से पूर्व प्रकृति के स्तर समाप्त हो चुके रहते हैं और शुद्ध-सत्ता का आलोक अपनी महाव्याप्ति में स्फुरित होता है। वैषम्यमूला विश्व समस्या का एकायन हल पाकर नवीन और प्राचीन के आपेक्षिक भेद-संस्कार विगलित हो जाते हैं और उन भेदमयी बीहड़ घाटियों से मन त्राण पा जाता है।

"घबराओ मत यह समतल है देखो तो हम कहां आ गये
मनु ने देखा आंख खोल कर जैसे कुछ कुछ त्राण पा गये
ऊष्मा का अभिनव अनुभव था ग्रह तारा नक्षत्र अस्त थे
दिवा रात्रि के संधिकाल में ये सब कोई नहीं व्यस्त थे
ऋतुओं के स्तर हुये तिरोहित भूमण्डल रेखा विलीन सी
निराधार उस महादेश में उदित सचेतनता नवीन सी"

काव्य में जो स्तर उद्दिष्ट और उपलब्ध है उसके लिये विश्व के स्थूल उपकरण अपने शोधित और सन्तुलित रूप में साधन मात्र हैं। साध्य तो परापर विश्व के अभेदमय सामरस्य से उदित होने वाली आनन्द की चेतन्यमयी दशा है जिसमें नवीन और प्राचीन एक बिन्दु में घुल कर नित्य शाश्वत भाव की अनुभूति देते हैं। साधन की उपेक्षा और दूषण तथा साध्य की विस्मृति दोनों ही अनिष्टकर और कामायनी के स्वारस्य के लिये बाधक हैं। विश्वात्म और विश्वोत्तीर्ण उभय भावों से पूर्ण महासत्ता-महाचिति-परमशिव-परमतत्व जो भी कहा जाय परम-लक्ष्य है।

समरसता की विशिष्ट भूमिका पर आत्म-चैतन्यमयी दृष्टि से सकल-सृष्टि को "सीयराममय" देख मानस की अभिव्यक्ति करते गुसाईं जी ने

स+मन और स+कल भवरोग के निदान में विश्व-गुरु शम्भु की विभूति का उपचार बताया। उन्होंने सकल-सृष्टि में एक ऐसे महामानव का चित्र उरेहा जिसमें देवत्व प्रतिष्ठित रहा और उसके आधार पर एक ऐसे समाज की कल्पना की जो समस्त दैहिक, दैविक और भौतिक तापों क्लेशों से निर्मुक्त हो। सामरस्य की विशिष्ट भूमिका में द्वैत अद्वय का साधक हुआ, एक स्थूल और मांसल आयतन परब्रह्म की शक्ति का आधार बना। "जुग-पानी" जोड़ते उन्होंने सब जग को प्रणाम किया। अवश्य ही इस "सीय-राममय सब जग" में उनका "स्व" भी निगूढ़ है किंवा उनके स्व में ही "सीयराममय सब जग" निहित है। कामायनी भी कहती है—"तुम सब हो मेरे अवयव जिसमें कुछ नहीं कमी है"। भव, मनोयुक्त और कल-सहित होकर रोगपुंज के रूप में प्रस्तुत है। अतः रोगबीज का सार्वांशिक निर्दहन मन के निदान और उसके उपचार द्वारा ही सम्भव है। कामायनी में इस प्राप्य की उपलब्धि कर पुरुष शिवत्व में प्रतिष्ठित हुआ है। पुरुष की शिवत्वोपलब्धि कामायनी में आद्योपान्त और सक्रम अनुस्यूत है। कामा-यनी में पुरुष का प्रस्थानबिन्दु ही हिमगिरि या विश्वमूर्द्धा है और गन्तव्य परम कैलास, जहां वह गौरी-स्पन्द-युक्त हो चन्द्रकिरीटी शिव बन गया। मायागृहीत संकोचसे शिव पुरुष बन अपनी जाड्यावस्था किंवा अपनी शक्ति की सुप्तावस्था के प्रतीक विश्वमूर्द्धा-हिमगिरि पर मनस्तत्व के माध्यम से स्फुरित उदित हुआ, पुनः उन्हीं मायिक स्तरों का भेद कर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो गया।

मनु और उनकी चिन्ता से कामायनी का प्रारम्भ होता है। मायिक संकोच ग्रहण कर शिव पुरुष रूप में उपस्थित हो पशुभाव के अभिनय करता है। मायिक संकोच का क्षेत्र चिन्त्य और तदुत्तीर्ण अचिन्त्य है जो तर्क और बुद्धि से परे है। चिन्त्य-क्षेत्र विषय-विकल्प-भूमि है। जीव-दृष्टि से प्रस्थान-बिन्दु चिन्ता और गन्तव्य अचिन्त्य है। विश्व-मूर्द्धा हिमगिरि पर यह चिन्ता उदित होती है और परम कैलास में अस्त हो जाती है। अचिन्त्य काउन्मेष तब तक संभव नहीं जब तक चिन्ता क्षेत्र की मायिक संकोच परिधि अतिक्रमित न हो जाय। अपने बहिर्मुख विलास काल में अपनी अन्तर्मुख

लयावस्था समाप्त होते ही, अभिसुप्ति के भंग होते ही मन में प्रथम स्फुरण चिन्ता का होता है और अनायास प्राप्त शब्द-सृष्टि की रंगभूमि में वह विषय-विकल्प के अध्यवसाय में सक्रिय हो जाता है। तर्क और विचारणा चिन्ता के पक्ष हैं जिनके बल पर शब्दानुविद्ध चिन्त्य-परिधि में मन संचरित होता है। अचिन्त्य के आकलन में तर्क और विचारणा के पक्षों वाली चिन्ता किंवा बुद्धि की सार्थकता नहीं अपितु बाधा है अतः उसका सावधानतापूर्वक संयोजन, सन्तुलन और संलयन आवश्यक है। कामायनी का कथाक्रम यह स्पष्ट करता है। बुद्धि मन से परे है अतः स्वाभाविक रूप से उसे अधिकृत किये रहती है। किन्तु, मन का प्रकृत-नीड़ श्रद्धा या हार्द शक्ति है जो बुद्धि के "तुमुल कोलाहल कलह में" हृदय की बात के रूप में प्रस्तुत हो वात्याचक्र से मन की रक्षा कर उसे सुपथ पर ले चलती है। बुद्धिस्तर का अतिक्रमण करने पर मन की विशिष्ट इयत्ता समाप्त हो जाती है और आनन्दमयी अहन्ता में सर्वात्मक आत्म स्वरूप का उदय होता है।

प्रकृति, पुरुषयोग से अपने में मन, बुद्धि और अहंकार को धारण कर पोषित करती है। प्रकृति गुणमयी है[1]। प्रकृति के गुणों से भावभेदवती बुद्धि प्रस्तुत होती है[2] बुद्धि से अहंकार उत्पन्न होता है[3] और अहंकार में उन गुणों का पूरा विकास रहता है जो बुद्धि के उपादान हैं। बुद्धि, अहंकार और मन स्वतःभी गुण-विशिष्ट हैं। चांचल्य के कारण मन रजोगुण विशिष्ट, प्रकाशाभास के कारण बुद्धि-सतोगुण विशिष्ट और आवरण के कारण अहंकार तमोगुण विशिष्ट है। चित्तविवेचन के प्रसंस में देखा जायगा कि मन, बुद्धि और अहंकार चित्त के भावगुण हैं किंवा इन तीनों की पुंजीभूत अभिव्यक्ति एवं समवेत ख्याति ही चित्त है। ये तीनों प्रकृति प्रसूत होने से प्रकृत हुये जिनके निष्पत्यर्थ–सिद्ध्यर्थ चिन्ता से सर्ग-अवसाय का आरंभ है[4]। चिन्ता, बुद्धि का पर्याप्य है

१—सत्वं रजस्तमश्चैव प्रकृतेस्तु गुणास्त्रयः—स्वच्छन्द तंत्र ११-६४

२—गृणोभ्योधिषणाजाता भावभेदैः समन्विता—स्वच्छन्द तंत्र ११-६८

३—बुद्धितत्वादहंकारः पुनर्जातस्त्रिधां प्रियेसात्विको राजसश्चेव तामसश्च-प्रकीर्त्तितः वही। ११-७

४—चिन्ता प्रकृतसिद्धयर्थां उपोद्घातं प्रचक्षते—भास्करी ज्ञानाधिकार १-१ (टीका)

जो अपने में बुद्धि के विशेष स्फुरण रखती है। अहंकारवश मन, बुद्धि को चिन्ता रूप में धारण करता है। पुरुष, प्रकृति, बुद्धि और अहंकार के अनन्तर तत्वभाव ग्रहण करने से मन में पुरुष से अहंकार पर्यंत तत्वों की भावसरणियां पुंजीभूत रहती हैं। मन के माध्यम से पंचकंचुकों के आवरण में पुरुष, प्रकृति, बुद्धि और अहंकार अपना द्योतन करते हैं, मन भी इन तत्वों की भावाभावमयी अभिव्यक्तियों को अपनी कृतियों में यथावसर प्रकाशित करता है। इस परिवेश में मन चिन्ता का चित्राधार बना बुद्धि की रंग-बिरंगी रेखाओं को अवभासित करता है। विकल्प-विषय में मन की घोरावस्था के प्रवेश की प्रणाली चिन्ता-रेखा है जो मन, बुद्धि और अहंकार पर्यवसित चित्त से निकल, स्थूलतर विकल्पों में अपने अभिनिवेश रखती है। विषय की प्रतीति अपने से सृजित कर विकल्पनों को प्रकल्पित करते हीं इस चिन्ता-रेखा के माध्यम से मन उनसे आश्लिष्ट हो जाता है, किंवा इस रेखातन्तु रूपी सम्बन्ध-सूत्र का जाल बुनते विकल्पों पर विशिष्ट इयत्ता का आवरण चढ़ाता है। दृष्टि वहां काल-कलित और देश-जड़ित होती है।

तप में निरत हुए मनु नियमित कर्म लगे अपना करने
विश्वरंग में कर्मजाल के सूत्र लगे घन हो घिरने

तथा प्रलय-गत सुषुप्ति के अनन्तर सृष्टि की प्राथमिक वृत्ति की ओर संकेत में कहा—

विजन जगत की तन्द्रा में तब चलता था सूना सपना
ग्रह पथ के आलोकवृत्त से काल जाल तनता अपना

कर्मप्रतीक यज्ञ [1] का उल्लेख करते कहा जा चुका है—

पाक यज्ञ करना निश्चित कर लगे शालियों को चुनने
उधर वह्नि ज्वाला भी अपना लगी धूम पट थी बुनने

काव्यशास्त्रीय दृष्टि में चिन्ता की परिभाषा करते कहा गया है—इष्टप्राप्त्यनिष्टप्राप्त्यदिजनिता ध्यानापरपर्याया, वैवर्ण्य भूलेखनाधोमुखत्वादि हेतुः चित्तवृत्तिविशेष चिन्ता, अर्थात् इष्टानिष्ट की प्राप्ति से

१—यज्ञो वै कर्म—शतपथ ब्राह्मण १-१-२-२

वैवर्ण्य भूलेखनादि दशाओं में परिलक्षित चित्त की विशिष्ट-वृत्ति चिन्ता है। यह परिभाषा स्थूल उपादानों पर अवलम्बित और विकल्पात्मक दृष्टि से हुई है, किन्तु एक अनिवार्य और महत्वपूर्ण तथ्य इसमें भी समाविष्ट है। वह तथ्य चित्तवृत्तिविशेष चिन्ता में निहित है। कदाचित अनायास ही।

चित्त और उसकी वृत्तियों की मीमांसा के सन्दर्भ में हुये विवेचन के अतिरिक्त चिन्ता का विशिष्ट पर्यालोचन प्रसंगानुकूल है।

आचार्य क्षेमराज ने शिवसूत्रों की विमर्शिनी व्याख्या में चित्त के विश्लेषण में कहा है—चेत्यते विमृश्यते अनेन परं तत्वं इति चित्तम्[1]। मुण्डकोपनिषद् में भी कहा है—एषोऽणुरात्मा चेतसावेदितव्यो[2]। शिवसूत्रों में आणवोपाय का प्रथमसूत्र है—आत्मा चित्तम्, व्याख्या में कहा गया यदेतत् विषयवासनाच्छुरितत्वात् नित्यं तदध्यवसायादि व्यापार बुद्ध्यहंकृन्मनोरूपं चित्तं तदेव अतति चिदात्मकस्वस्वरूपाख्यात्या सत्वादि वृत्यवलम्बनेन योनीः संचरति इति आत्मा अणुरित्यर्थः। इदमात्मक शून्य में चित्त-विश्रान्ति की आणवी संज्ञा सकल-भाव के सृजन प्रज्ञप्त करती है। यह प्रज्ञप्ति बुद्धि के प्रकाशगुण, मन के चांचल्यगुण और अहंकार के आवरणगुण द्वारा सम्पादित हो स्थूल जगत की बीजगत आदि कोटि होती है। चिति के संकोचक्रम का खण्डात्मक पर्यवसान चित्त के रूप में है। अपनी अहंकृति में बुद्धियोगपूर्वक मन के रूप में चित्त की स्फुरणावस्था है। मनबुद्धि और अहंकार अपनी इयत्ता के वृत्त में सीमित हो एक दशा अवभासित करते हैं जिसकी आख्या वृत्ति है। मन की मूल प्रवृत्ति मननात्मक और बुद्धि की चिन्तनात्मक है। ये दोनों ही प्रवृत्तियां सजातीय हैं। किन्तु, मन की अन्तर्मुख लयावस्था में उसकी मनन-वृत्ति शान्त रहती है अतः एक कल्पित अमरत्व की अनुभूति में वह मग्न रहता है। मन के बहिर्मुख विलास-काल में संवेदन और अनुभूति के लता कुंज तले मननवृत्ति जागृत हो जाती है और बुद्धि के स्फुरण-योग, उसके चिन्ता-पर्याय से मन प्रभावित होने लगता है। परिणामतः चिन्तन की सजातीत वृत्ति मनन मन में उदित होती है।

१—शाक्तोपाय सूत्र-१

२—खण्ड १, मुण्डक ३, मंत्र ९

विकल्प-क्षेत्र में बुद्धि की संकोचवती स्फूर्ति मिलने से अपने बहिर्मुख विलासकाल में मन को देश और काल की अनुभूति होने लगती है परिणामतः उस कल्पित अमरत्व के समाप्त होने की संभावना उदित होती है—

मनन करावेगी तू कितना उस निश्चिन्त जाति का जीव
अमर मरेगा क्या ? तू कितनी गहरी डाल रही है नींव

बुद्धि से अधिकृत मन चिन्तन-धर्मा हो जाता है[1] ।

अहंकार इदन्ता-पर्यवसित बोधभाव है, जो भावयुक्त होने से समन है। कारण भाव और मन पर्याय हैं[2] । इस प्रकार अहंकार चिन्ता-प्लुत है। चित्त की ये तीनों प्रवृत्तियां चिन्ता से अनुप्राणित हैं जो आत्मा की अणु-दशापन्नता में स्फुरित होती हैं। चित्त को मन के पर्याय और मन को मंत्र के पर्याय में भी ग्रहण किया जाता है अर्थात् मन, चित्त और मंत्र का समशील है। अवश्य ही सभी दशाओं में चित्त और मंत्र से मन की समानशीलता स्थिर नहीं रहती। गतिप्रवण मन की कुछ विशिष्ट अवस्थायें हैं जिनमें वह चित्तमय और मंत्रमय होता है। मंत्र वर्णात्मक हैं और वर्ण शक्ति के विभिन्न स्फुरणों के विकल्पात्मक प्रतीक हैं। मन की पीठिका अहंकारवती घोरावस्था में विकल्पमयी ही रहती है अतः स्तर साम्य रहता है। बुद्धि के आलोक में मन की क्रियाशीलता ले चिन्ता की सातत्यगामिनी शक्ति से चित्त में अहंकारवृत्ति गतिवती होती है। यह उन्मेष-प्रारंभ या उपोद्घात वृत्ति है जो नाना रूपों के विकल्प माध्यम से अपना सातत्य प्रवर्तित रखता है[3] । विकल्प भूमिका में मननधर्मा मन का चिन्तन धर्मिणी चिन्ता से पृथक् होना संभव नहीं। ऊपर दिये काव्यशास्त्रीय उद्धरण में चित्तवृत्ति-विशेष-चिन्ता के सन्दर्भ में प्रस्तुत विश्लेषण द्वार लक्षित होता है कि अन्तर्मुखलयावस्था भंग होते ही अपने बहिर्मुख विलास-काल के आदि में मन के सम्मुख चिन्ता के नाना रूप ले बुद्धि-तत्व प्रत्यक्ष होता है। विश्व-सृष्टि के आदि में मनन और चिन्तन के युगपत् स्फुरण

१—मनश्चिन्तयते यानि बुद्धिर्यानि व्यवस्यति—स्वच्छन्दतंत्र १२-१६३

२—भावश्च मन इत्युक्तं तन्मनो बुद्धिपूर्वकं—स्वच्छन्द तंत्र

३—एकचिताप्रसक्तस्यात्ततस्यादपरोदयः-स्पन्द ३-९,

अणुरात्मा में उदित होते हैं। (बुद्धि मनीषा मति आशा चिन्ता तेरे हैं कितने नाम) कामायनी के आदि में यह रूप प्रस्तुत है। कवि ने कामायनी लिपिबद्ध करने से प्रायः दो दशाब्दी पूर्व चिन्ता और श्रद्धा के विषय में विचार करते लिखा था–"मनुष्य जब आध्यात्मिक उन्नति करने लगता है, तब उसके चित्त में नाना प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं, और उन्हीं भावों के पर्यालोचन में उसके हृदय में एक अपूर्व शक्ति उदित होती है उसे लोग चिन्ता कहते हैं[1]।" कवि ने शिव-साधन के उपक्रम में अपनी तत्कालीन उपलब्धि का संकेत यहां किया है। बुद्धि तत्व का चिन्ता-रूप उस समय "एक अपूर्व शक्ति" की अवस्था में प्रत्यक्ष हुआ था। किन्तु साधना का क्रम निरंतर बढ़ता रहा। चिन्तन, मनन और अनुभूति के आयामों में नई नई उपलब्धियां होती गईं और मायिक-स्तर की जटिलतायें एवं विश्व-प्रपंच के रहस्य खुलते गये। कामना नाटक में वृत्तियों की मीमांसा और उनके स्फुरणों का निदान प्रस्तुत करने का एक सफल प्रयोग भी हुआ किन्तु वृत्तियों के मूल मन के निदान और उपचार की कल्पना कामा-यनी में साकार हुई जहां अपनी सम्पूर्ण तात्विक उपलब्धियों का उपयोग कवि ने जीवस्वातंत्र्य के मार्गदर्शन में किया। उस समय जीव स्तर से शिवोन्मुख आरोहण में कवि-दृष्टि चिन्ता तक पहुंची थी जो निश्चय ही विश्वभूर्द्धा हिमगिरि पर उदित हो परम कैलास तक आगे बढ़ती प्रगति का उज्ज्वल सन्देश और उच्चतम मानदण्ड दे गई। मायिक प्रपंच-स्तर के निदान तथा शिव की अणुदशा-पन्नता का अभिज्ञान कर प्रत्यभिज्ञा मार्ग से क्लेशों के उपचार और शिवत्व की सम्प्राप्ति के लिये कवि ने कामायनी की अवतारणा की। काव्यशास्त्रीय पक्ष से उपस्थित चिन्ता का विवेचन कवि की दृष्टि में उस समय भी महत्व न रखता था। चिन्ता के प्रति प्रारम्भ से ही कवि की दृष्टि स्वतन्त्र, सूक्ष्म और निरपेक्ष रही। आचार्य श्री सोमानन्द के प्राचीन शास्त्र-ग्रन्थ शिवदृष्टि जिसका सर्वप्रथम मुद्रण सं० १९९१ में हुआ है, कुछ ऐसा ही संकेत मिलता है—

ध्यानंनामात्र यत्सर्वं सर्वाकारेण लक्ष्यते
भावना चक्षुषा साध्वी सा चिन्ता सर्वदर्शिनी।७-८।

१—इन्दु कला १ किरण ८ सं० १९६६

चैतन्य लीला की अनुकृति में मन अपनी संकल्प-विकल्पमयी अनुभूति और सृष्टि लिये अनुक्रीड़ित रहता है। महाचिति में स्वरूप-गोपन के अनन्तर उपस्थित संकोच और आवरण-शक्ति की वैषम्यमयी प्रतिध्वनि मन की स्वाभाविक अवस्थाओं में मुखर रहती है। ये अवस्थायें अन्तः संकोच किंवा अन्तर्मुख लयावस्था एवं बहिर्प्रसारण अथवा बहिर्मुख विलास की दो मौलिक वृत्तियाँ हैं, जिनकी भित्ति पर मन के समत अवसाय उदित और अत होते रहते हैं। अन्तःसंकोच घोरावस्था की उदयादशा और बहिर्प्रसारण विकल्प पर्यवसित ज्ञेय-पार्थक्य की अवथा है।

मन के स्फुरण के लिए यगपत् चित्तक्षेत्र में ही बुद्धि, प्राण तथा इदमात्मक शून्य सृजित होते हैं। मायिक-सृष्टि के चित्र इदन्तापट पर, कर्मबीज के निमित्त और कला से पृथ्वी पर्यन्त तीस तत्वों के उपादान ले अंकित होते हैं[1]। सान्ध्यप्रकाश की भांति माया में अहं का आत्यन्तिक संकोच रहता है, वहां अहन्ता अपने अहंभाव की विस्मृति में मात्र इदन्ता रूप से स्फुरित होती है। महामाया-तर पर महामाया अपनी अहन्ता का पूर्णबोध रखते इदन्ता का स्फुरण करती है। मायिक स्तर पर कर्मबीज धारण करने वाली अनात्मा की प्रथमावस्था शून्य है, यहां कारण रूप से सुषुप्ति रहती है। कर्म की पूर्वावस्था को धारण करता अनात्मा का प्रथम स्फुरण प्राण है, यहां कारण रूप से वप्नावस्था रहती है। तथा च, कर्म की उत्तरावस्था की अवधारिका अनात्मा की घनीभूतावस्था बुद्धि है, यहां जागर-भाव-कारणभूत है। योगवाही मन से युक्त रह कर शून्य, प्राण और बुद्धि मायिक-क्षेत्र में विकल्प क्रीड़ा करते हैं।

मनु का अवसर्पण किस परिवेश में हुआ, किन दशाओं में मन का अवतरण सम्भव हुआ या होता है—यह देखना है।

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर बैठ शिला की शीतल छांह
एक पुरुष भींगे नयनों से देख रहा था प्रलय प्रवाह
नीचे जल था ऊपर हिम था एक तरल था एक सघन
एक तत्व की थी प्रधानता कहो उसे जड़ या चेतन

१—अनन्तभट्टारक तत्व में अधिष्ठित ईश्वर द्वारा माया में ईक्षण सेमि यक सृष्टि होती है।

हिम और जल के रूपक में शिव एवं शक्ति किंवा ज्ञान और क्रिया प्रस्तुत है, वास्तव में ज्ञान और क्रिया, महेश्वर्य-युक्त उस एक-तत्व किंवा परम-तत्व के उन्मिष्ट शक्ति-भाव हैं जो हमारी भेदभूमिका पर भिन्न रूपेण भासमान होते हैं। जड़ता और चेतनता का आपेक्षिक विवेचनारोप भेदवती बुद्धि के स्तर पर अवभासित होता है। ज्ञानविशिष्ट अवस्था में जहां क्रिया अन्तर्मुखत्वेन स्फुरित होती है—शिवावस्था है, इसका प्रतीक हिम है। क्रियाविशिष्ट अवस्था में ज्ञान का स्फुरण बहिर्मुख भाव में होता है—यह शक्त्यवस्था है, इसका प्रतीक जल है। जल अन्तर्मुख-भाव धारण कर तथा सघनत्व और संकोच ग्रहण कर हिम के रूप में जड़ता का स्थिति-भाव द्योतित करता है। सघनत्व और संकोच के निरसन की दशा में बढ़ते ही हिम बहिर्प्रसार और गति-भाव ग्रहण कर द्रवत्व का चेतन स्फुरण करता है। यह भगवती की सृष्टि-जननातुरा नित्यक्लिन्नावस्था का एक स्वरूप है। एक-तत्वता का विपाक क्रमशः सिद्ध होते ही अपनी पूर्णावस्था में कामायनी के अन्तिम छन्द-समरस थे जड़ या चेतन सुन्दर साकार बना था, चेतनता एक विलसती आनन्द अखण्ड घना था—में प्रस्तुत है। वह एक तत्व ही जल और हिम किंवा शक्ति और शिव के रूप में भिन्न भासमान हो रहा है। इस जल और हिम की तत्वगत एकता के परिज्ञान की फलश्रुति में कहा गया है—जलं हिमं च यो वेद गुरुवक्त्रा-गमात्प्रिये नास्त्येव तस्य कर्त्तव्यं तस्यापश्चिम जन्मता[1]। गुरुवक्त्र एवं आगम से किंवा गुरमुख से निष्पन्न अथवा गुरुमुख रूपी आगम द्वारा जो जल और हिम की तात्विक एकता को जानता है उसके कर्म प्रहीण हो जाते हैं, परिणामतः उसकी संसारावस्था और आवागमन का अन्त हो जाता है। गुरु तत्वतः शिव की अनुग्राहिका शक्ति है[2]। मालिनी विजय में कहा है—शक्ति चक्रं तदेवोक्तं गुरुवक्त्रं तदुच्यते। यह सूक्ष्म रूप से सहस्त्रार में और स्थूल रूप से देहभाव ले शास्ता के रूप में प्राप्त है। मालिनी विजय में यह भी कहा है—स गुरुर्मत्समः प्रोक्तः मन्त्रवीर्य प्रकाशकः।

१—शिवसूत्रविमर्शिनी, काश्मीर संस्कृत सीरीज पृष्ठ ९८
२—गुरुर्वा पारमेश्वरी अनुग्राहिका शक्तिः, वहीं उन्मेष २ सूत्र ७० की टीका

परिनिर्वृति की शुद्धावस्था गुरुवक्त्र पदवाच्य[1] है जिसके अवलम्ब से जल और हिम किंवा शक्ति और शिव का तत्वज्ञान संभव है। शिव के पांच मुख कहे गये हैं जिनसे आगमों की उत्पत्ति है[2]। ये पांच मुख इशान, सद्योजात, वामदेव, तत्पुरुष और अघोर हैं। इन मुखों के परस्पर भिन्न संयोग द्वारा भिन्न-भिन्न आगमों अवतरण क्रम है। स्थूल रूप से जल और हिम के परिज्ञान के लिये आगम और अनुमान की आवश्यकता नहीं वह तो दृष्टि सिद्ध है। किंतु उसके प्रतीकात्मक अर्थ और प्राविधिक लक्षणों की वेद्यता के लिये गुरुवक्त्र और आगम की आवश्यकता अनिवार्य है।

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर शिला की शीतल छांह में बैठा एक पुरुष अपने भीगे नयनों से प्रलय का प्रवाह देख रहा था। पुर में शयन करने वाला पुरुष[3] अर्थात् देह बद्धता का अभिमानी जो वस्तुतः कंचुकों[4] से आच्छादित और मलों[5] से अवलिप्त परम सत्ता द्वारा निग्रहीत अणुरात्मा है, वह पार्थिव चेतना किंवा भेदवती सामूहिक चेतना की विश्व-मूर्द्धा पर चैतन्य की जड़तम—अणुतम—सघनतम दशा, शिला की छाया में किंवा उसका आश्रय लेकर बैठा है। कामायनी के आमुख में उल्लिखित सामूहिक चेतना इस ओर संकेत करती है। ऊपर से हिम की शीतलता और नीचे से जल की आर्द्रता तथा शीतल शिला के आश्रय से उस एकाकी पुरुष के लिये क्लेश का वातावरण प्रस्तुत है। इस परिवेश में विशेष रूप से पशुदशापन्न-शिव अपनी शक्ति की अनुभूति न करता जड़ावस्था में शवतुल्य पड़ा है। परिणामतः पुरुषावस्था में निग्रहीत अणु, जाड्य का आश्रय लिये मन, बुद्धि और अहंकार के उपादानों पर आघृत एवं अनेकता में अभिव्यक्त होने वाला पुरुष एक ही है जो संसृति के चित्र मन की तूलिका ले बुद्धि-अहंकार के योग से उरेह रहा है। यह तूलिका गतिप्रवण

१—सुनिर्वाण परं शुद्धं गुरुवक्त्र तदुक्यते—स्च्छंदतंत्र, १०–१२७७
२—एकैकं पंच वक्त्रं च वंक्त्रयस्मात्प्रगीयते दशाष्टदश भेदश्च ततोभेदेष्वसंख्यता
३—विश्वसद्मनि सदात्मनीश्वरे पूरणात् पुरुषतामुपेयुषि ये मनः प्रणिदधुर्महर्ष-यस्तान् पतंजलिमुखानुपास्महे—चिद्गगनचन्द्रिका १–९
४—कंचुक पांच हैं—कला, विद्या, राग, नियति, काल कहीं माया को लेकर ६ भी कहे गये हैं
५—मल तीन हैं आणव, मायीय, कार्म

और योगवाही हो पुरुष की मूलवृत्ति बन गई किंवा मनोमय रूप-भाव उस पुरुष द्वारा भावी संसृति में अग्रत्व-धारण की ओर अग्रसर हुआ। प्रलय में सुषुप्ति-भाव रहता है जिसमें अनभूति अक्रिय रहती है। प्रलयावस्था समाप्त होने पर सुषुप्ति अपने प्रलयगत संस्कारों की छाप अणु पर दिये रहती है। अनन्तर गतिभाव अपनी अधोमुखीदशा में प्रवर्तित हो जाता है जिसमें स्थिरता नहीं अपितु प्रवाह रहता है। पुरुष शरीरी मन उस प्रवाह का द्रष्टा बना। चैतन्य-दृष्टि से प्रलय स्वयं भी एक सृष्टि है जो सर्ग की पूर्वावस्था है। कवि की एक कहानी प्रलय (प्रतिध्वनि में संगृहीत) में बहुत दिनों पहले ही यह तथ्य आ चुका है—"पर सर्ग प्रलय के लिये होता है, यह निस्सन्देह कहा जायगा क्योंकि प्रलय भी एक सृष्टि है"।

मन की बहिर्मुखी अवस्था में प्राणस्पन्द होता है। यहां मन की अवस्था अभी बहिर्मुखता की ओर उन्मुख होने वाली है। अतः मन के निकेत, पुरुष-हृदय में स्तव्धभाव है। निष्क्रिय शिव की प्रतिमूर्ति किंवा मन का अवसन्नभाव उस पुरुष के हृदय पर स्तव्धता के रूप में छाया था। ज्ञान-प्रलय की अवस्था में साधक जब इस स्तर के निकट आता है तब शुद्ध-विद्या का आलोक प्राप्त न होने तक प्राण रुद्ध रह संचारहीन हो जाते हैं और चित्त की अस्फुरितावस्था में शिव की मात्र प्रकाशानुभूति संभावित रहती है। जब तक शुद्ध-विद्या का उदय न हो विमर्श की ख्याति नहीं। आगे चल कर उस एक पुरुष को तपस्वी कहा गया है। चरण, पादपर्यायी होने के साथ ही स्तरात्मिका दशा एवं अवस्थाभाव का भी द्योतन करता है। भैरवागम के साधन-क्रम में चरणप्रान्त में वायवी-धारणा करने का निर्देश है[1]। निग्रहीत अणु के गाढ़तर होते संस्कार एवं कर्मबीज की सघनतम अवस्था किंवा शिलावस्था-प्रस्तरावस्था का संकेत शिलाचरण में निहित है। प्रस्तर शब्द की विवेचना से भी यह रहस्य विदित होगा। प्र अक्षर प्रथनवाची तथा ख्याति, गति एवं आरंभगुण सम्पन्न है ओर स्तर है अवस्थापदवाच्य। अतः निष्कर्ष निकला—जड़भाव की वह अंतिम सीमा : स्तर : जहां से चेतनोन्मुखता के प्रारंभ की गति

१—वायवीधारणांगुष्ठे—स्वच्छन्द तंत्र ७—२९६

ख्यात हो एक दूसरे प्रकार से मीमांसा में—प्रस् : प्रसते : से स्फीत विस्तार एवं विक्षिप्ति का बोध होता है। महाचिति में आवरण-शक्ति से संकोच की उपस्थिति के अनन्तर विक्षेप-शक्ति उदित हो जड़ावस्था के क्रमशः उद्भासन प्रस्तुत करती है अतः विक्षेपवृत्ति की स्फीततर अवस्था प्रस्तर : प्रस् + स्तर : पदवाच्य है। शिला और प्रस्तर पर्याप्त हैं। गौतम ने अहिल्या को शाप दे शिलावस्था से डाल दिया अर्थात् अणुत्व की गाढ़तम और सघनतम जड़ावस्था उसे प्राप्त हो गई। वही शिला राम के चेतन चरण का स्पर्श पाते ही पूर्व गत चेतन दशा में आ गई। बुद्धि, प्राणादि परिमित रूपाधार ले आणवी साधना में वह एक पुरुष प्रवृत्ति हुआ—चरणों से पवमान के टकराने की अनुभूति में वायवी—धारणा होने लगी। उसका साघन-पीठ सुरों का स्मशान हुआ। अजर अमर रहने वाले सुरगण अहंकार मूलक कर्मों की ज्वाला में दग्ध हो गये, उनका क्षेत्र स्मशान हो गया और वह एक पुरुष अपना ही देवशरीरी शव लिये स्मशान-साधन करने लगा। प्रलयसिंधु की लहरों का अवसान होने लगा था, संवृति भाव प्रकृति के पट में तिरोहित हो चला था और विवृति पूर्णतः संभावित थी। प्रकृति ने एक अंगड़ाई ली और अपने खिलौनों के रूप बदलने संवारने लगी। वह एक पुरुष अब एक तपस्वी के रूप में आ गया। उसमें कायिक शोषण और निर्दहन पूर्वक ज्ञेयोपलब्धि की प्रवृत्ति अंकुरित हुई। देवों के पूर्व संस्कार कायसंस्थान में रुचिमान हो अभिनिविष्ट थे। अतः तपस्वी उसी स्तर पर हेतु शोघ करने लगा। उस तपस्वी जैसे ही दो चार और भी सुरसंस्कृति वाले प्राणी पत्थर जैसे ठिठुरे बचे थे। देवदारु शब्द से देवकाष्ठ किंवा देव शरीर अभिहित है। प्रचलित भाषा में भी शरीर को काठी कहा जाता है। श्रद्धा की भी उपमा आगे चल कर शिशुसाल से दी गई है (मधुपवन क्रीड़ित ज्यों शिशुसाल)। आगे वास्तव में देवयोनि की, और दो चार अर्थात् छ अभिव्यक्तियां मिलती हैं—श्रद्धा, रति इड़ा, काम, आकुलि और किलात।

(क्रमशः)

रत्न शंकर प्रसाद

(पिछले पृष्ठ ९६ का शेष)

उस एक पुरुष के मन में बहिर्मुख संचारवृति से विवृति स्पष्ट हुई। अपार ऊर्जस्वित वीर्यवाला दृढ़ मांसपेशियों से गठित शरीर प्रत्यक्ष हुआ जिसमें मानव का आदि रक्त स्वस्थ रूप में बहता था। पुरुष का मुख (अग्रवृत्ति) चिन्ता से प्रभावित था। अब मन से ओतप्रोत वह पुरुषभाव अन्तर्भुक्त हो गया अर्थात् प्रामुख्य मन तथा मन से निर्मित शरीर का हो गया। (मनोकृतेनायात्यस्मिन्शरीर)

मनु के अवसर्पण प्रसंग में, शतपथ ब्राह्मण में वृक्ष से मनु के नौबन्धन का उल्लेख है। (वृक्षे नावं प्रतिबध्नीष्व १–८–६)। कामायनी में महावट से नौका का बाँधना दिखाया गया है। वट और वृक्ष भी पर्याय हैं। वट न्यग्रोधजातीय वृक्ष है। इस प्रकार के वृक्ष से नौबन्धन लाक्षणिक है। रोधावस्था जहाँ न्यग्भाव अर्थात् तिरोभाव में व्यस्त हो, वह न्यग्रोध। शाक्यमुनि सिद्धार्थ भी न्यग्रोध की छाया में ही संस्कार निरोध और भवपाश निकृन्तन कर बुद्ध होते हैं। वट संसरण गर्भावस्था के प्रतीकों में भी आता है—जो अपने बीज में अपनी संसरण वृत्ति रुद्ध रखता है।

यथा न्यग्रोध बीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः
तथा हृदय बीजस्थं जगदेतच्चराचरम् — (परात्रीशिका २४)

स्व में पूर्ण भाव के निषेध से इदम् उपस्थित होता है और स्व का स्वत्व एक परत्व का द्रष्टा बनता है। इस दशा में अभावबोध होता है अतः प्राप्ति की इच्छा उपस्थित होती है। परत्वाभास से इच्छोदय पर्यन्त एवं इष्ट की प्राप्ति वा अप्राप्ति तक की अवस्था में ही नहीं, आगे भी फलभोग पर्यन्त चिता बिंदु से निसृत रेखा चली जाती है। प्राण और देहात्मबोधी वरुण-वर्गीय एवं मेधात्मबोधी (इड़ाभावित) इन्द्र-वर्गीय, देवगण दोनों ही स्व-सत्ता के प्रति आत्मबोध नहीं अपितु पार्थक्य बोध रखते हैं।

जल आश्रयाश्रित है, उसकी स्थिति साधार ही रहेगी चाहे वह आधार जिस रूप भाव में हो। जल शक्ति है, जो शिवहीना कथमपि नहीं। हिम में भी उस आदि शून्यभूत अज्ञातावस्था-सघनता का प्राथमिक आधार रहता है, जहां वह (शक्ति) अपनी ही अक्रिय दशा में शून्यभूत शिव को आख्या देती है, किंवा स्वयं ही शिवरूप से ख्यात होती है। मायातंतुओं से निर्मित पाश धारण करने वाले वरुण को उसने (शक्ति ने) अपना कार्यवाहक नियत किया। इन्द्र ने भी संसृति की इस सेवा के लिए वृत्र अर्थात् वरुण क्षेत्र को वज्र से विदीर्ण कर उसमें आबद्ध जल किंवा शक्ति को अनुकूल बनाना चाहा और किसी सीमा तक बनाया। तभी परवर्ती वेद और छान्दम् काल में इन्द्र को प्रामुख्य मिलता है। कामायनी में विश्वदेव, सविता, पूषा, सोम, मरुद्गण, को मनु जिस आत्मीय भाव से संबोधित करते हैं उस प्रकार वरुण को नहीं।

"वरुण व्यस्त थे घनी कालिमा स्तर-स्तर जमती पीन हुई"—से तो लगता है कि वरुण जल प्रलय कारयित्री की प्रेरणा का कार्यान्वयन करते हुए व्यस्त हैं। अपने वर्ग की रक्षा तो कुछ अंशों तक उन्होंने अवश्य की और अपना तंत्र किसी सीमा तक चालू रखा। किलात और आकुलि को वरुण के प्रतिनिधि स्वरूप मनु को मेधकर्म में प्रवृत्त करते और यज्ञ भाग लेते कर्म सर्ग में पाया जाता है—"जिनके लिए यज्ञ होगा हम उनके भेजे आये" इससे स्पष्ट होता है कि वरुण अपने शासन में कितने व्यस्त और उसके प्रति कितने सजग हैं। वितर्कगत मेधा व्यापार से अनुप्राणित सकाम पशुमेधों में, इन्द्र और इन्द्र-वर्गीय देवों से अधिक रुचिमान वरुण और वरुण वर्गीय रहे। आवेरता, अपनी सर्वोच्च सत्ता को अहुर्मज्द अर्थात् असुरमेधा कहता है, असुरात्मा नहीं। अर्थात् वहां मेधा तत्व ही सत्ता की पराकाष्ठा है। सकाम मेध पर्यवसित मेधा में ही वहां आत्मभाव आरोपित है। माया से पृथ्वी तक फैले इन्द्रजाल में वरुण अपने मायिक तंतुओं से गठित पाश धारण किए शक्ति द्वारा प्रवर्तित जलमाया का अनुवर्तन कर उसमें व्यस्ततापूर्वक रमण कर रहे थे। विश्वदेव, सविता, पूषा आदि तिरोहित होकर मानवी संसृति में मानवी दृष्टि से प्रतिसंस्कृत हुए। चिंता की ज्वालामुखी स्फोट आदि भीषण उपमायें देते हुए उसकी भीषणतम उपमा जलमाया कहकर दी गई जिसकी वह चल रेखा अर्थात् सक्रिय अवस्था है। चिंता रेखा में अधोमुखी गति किंवा विषयोन्मुख विष भाव उपस्थित है, फलतः उसका अवतरण विश्वस्तर पर विषधरी के रूप में होता है[1] विश्वम्भर के विश्व शरीर ने इस प्रकार ब्याल भूषण धारण किया। प्रस्तुत महाकाव्य में, चिंता विश्ववन की व्याली के रूप में आती है।

प्रकृति की गुणसाम्यावस्था गुणों में असन्तुलन से क्षुब्ध हो उठती है फलतः उस असन्तुलन के चिह्न मिटाने के लिए प्लावन के रूप में शक्ति महाप्रक्षालन करती है, चाहे वह जल तत्त्व को लेकर हो या और किसी तत्त्व विशेष को, अवश्य ही उस निमित्त की तुष्टि के लिए किसी न किसी तत्त्व विशेष का आधारोपादान चाहिए। गुण वैषम्य को दूर करने के लिए तत्त्ववैषम्य का उपचार आवश्यक है, कारण गुण तत्त्वाधीन हैं।

जब मन के चिंतन अवसादात्मक होते हैं तब प्रत्यक्ष विश्व का रूप और प्रभाव भी वैसा ही होता है। विरही को विधु शीतलता नहीं—दाह देता है, शीतल कुसुमित वाटिका उसे अंगारमयी लगती है जब कि संयोगावस्था में इनसे सुखानुभूति होती है। अतः विकल्प गौण और संकल्प प्रमुख है। चिंतन की अवसादोन्मुखी वृत्ति में चिंता, आधि-व्याधि मूल, ग्रहगति तथा तज्जनीन जरादि दशाओं से ब्यापृत और धूमकेतु

---

१. विषविश्वस्व रौद्रस्य मोहमूर्च्छाप्रदस्य च

जैसी अशुभ-मूर्ति के रूप में मनु के अर्थात मन के भाव पट पर उदित होती है। अमर के अमरत्व में अनास्था उत्पन्न करने वाली वह चिंता, मन के काल्पनिक सुखों के हरे भरे क्षेत्र पर उपल बरसाने वाली मेघमाला जैसी आशंकित अनुभूत हुई है। अनास्था की घनीभूतावस्था में चिंता के सार्वकालिक वर्तमानत्व की आशंका में मनु कह उठते हैं—"छिपी रहेगी अन्तरतम में तू सबके निगूढ़ धन सी" चिंता की संवेदना के अन्य स्तरों पर भी न्यस्त करते कहा गया—"बुद्धि, मनीषा, मति आशा, चिंता तेरे हैं कितने नाम" और अन्त में मनु ने ऊब कर कहा—"अरी पाप है तू जा चल जा यहां नहीं कुछ तेरा काम" उसके बाद विस्मृति से सुधासिंचन और अमृतलेपपूर्वक शून्यपरिचर्या की आकांक्षा होती है—

"विस्मृत आ अवसाद घेर ले नीरवते बस चुप कर दे,
चैतनता चल जा जड़ता से आज शून्य मेरा भर दे।"

यहां बीज रूप से जड़ता को चेतनता मानने की भूल वर्तमान है। वर्तमान चेतनता भूतग्रस्त और स्वार्थ नियत है अत: मूल चैतन्य दृष्टि से यह मान्यता जड़ावस्था है, जिससे बाधित ही मनु आगे चल नाना कष्टभोग करते हैं। कर्म सर्ग में श्रद्धा चेतावनी देते कहती है—

अपने में सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा,
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है अपना नाश करेगा।

अतिशयाभावेन जिसकी इति सम्पादित हो चुकी, और जो पूर्णत: अपने प्रत्यक्ष व्यंग्य समाप्त कर तिरोहित हो गया तथा अब जिसके स्मर्यमाण अनुभव बुद्धि के स्मृति-पट पर कृतित्व के अंकन में शेष रह पूर्व वर्तमानत्व का वर्तमान में अवबोध कराते हैं, उस अतीत के सुख की मनु जितनी चिंता करते हैं उतनी ही दु:ख की रेखायें बनती जाती हैं। मन चिंता की रेखा को दु:ख रेखा के रूप में ग्रहण कर रहा है। कहाँ ? अनन्त में। इस अनन्त का आभास तो अभी मिला किन्तु उसकी अनुभूति पृथक हो रही है, और मर्म ? अज्ञात है। यह अनन्त कोई और नहीं शुद्ध विद्या स्तर का प्रमाता अनन्त भट्टारक है जो वर्णों के उपादान से भेदैकेसार अपरविश्व का अधिष्ठान ग्रहण करता है। आशासर्ग में मूल सत्ताधारी के अन्वेषण में इसी अनन्त का यों स्मरण किया गया है—

"हे अनन्त रमणीय कौन तुम ? यह मैं कैसे कह सकता,
कैसे हो क्या हो इसका तो भार विचार न सह सकता।"

यहां अनन्त भट्टारक भाव में अपरविश्वस्तर पर विकल्पों का उल्लासन कर उसमें रमण करने वाले शिव की ओर लक्ष्य है। अनन्त भट्टारक का मेय भेदैकेसार अपर

विश्व है। इस अपरविश्व की लक्षणा में मृत्यु किंवा काल को वहां क्रीड़ित करते दिखाया और कहा गया—"तू अनन्त में लहर बनाती।"

अबतक अपने को असफल और विलीनप्राय देखते भी मन में नव सर्ग के कारयिता बनने की आशा है तभी वे अपने को सर्ग के अग्रदूत के रूप में देखते और स्मरण करते हैं। अपनी वासनामूलक पूर्व संस्कृति के प्रत्यावर्तन किंवा उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप आंधी और बिजली भरे दिनरात उन्होंने देखे थे।

मणि का प्रतीक विधान देवों के लिए हुआ है। किंवा समर्थ है चमकना, मणि में सघनता और चमक होती है। गुण संश्लेश वर्तमान हैं जिनसे देवगण बाधित हुए। "विदेहा अपि बध्यन्ते प्रलये गुलवासिता: शरीरिणापि अच्यन्ते विशुद्धज्ञानसंश्रयात्।" विस्मृति विशिष्ट इदन्तोन्मुख भोगाभिमान से अणुत्व की सघनता गात्तर होती गई और अशुद्धबोधावस्था के आवरण में बुद्धि से अतिरंजित उसका रूपभाव देवद्युति हुआ।

आगे चल कर श्रद्धा सर्ग में श्रद्धा मनु को प्रभा की धारा से निर्जन का अभिषेक करते देखती है। मनु ने अपने देव वैभव और उसके विनाश के चिंतन में कहा—"मणि दीपों के अन्धकारमय अरे निराशापूर्ण भविष्य।" यहां देवों के अन्धकारमय भविष्य की ओर संकेत किया गया है। आगे चलकर कहा गया—

"वे अम्लान कुसुम सुरक्षित मणिरचित मनोहर मालायें,
बनी शृंखला जकड़ी जिनमें विलासनी सुरबालायें।"

देवांगनाओं से संश्लिष्ट मणियों के रूप में परोक्षभाव से देवों की ओर संकेत हुआ है, "जिनके कुसुमितकुंजों में वे पुलकित प्रेमालिंगन हुए विलीन।" अपने अवसर्पण क्षेत्र हिमालय को मनु डूबती सी अचला का अवलंबन मणिरत्न निधान के रूप में देखते हैं और फिर देख बिखरती है मणिराजी कहकर, अपनी मणिराजी अर्थात् द्युतिमान और बिखर कर विलीन होते देवों को संभालने के लिए माया रजनी से कहा गया है।

देख बिखरती है मणिराजी (आशासर्ग)

मिथ्याज्ञानमूलक देवाहंकार से परिपूर्ण वह सुर संस्कृति अपनी ही ज्वाला में जल गई—"आह जले अपनी ज्वाला से फिर वे जल में गले गए।" महा शक्ति, ऐसे मिथ्यात्व का निरसन महासंहार द्वारा करती है। अमरता, श्रेष्ठता और उज्ज्वलता के दम्भ वाले तथा अन्य को अवपद और अवचीन समझने वाले, स्मृतिशेष हो जाते हैं। कदाचित् लीला में वह शक्ति स्वयं अपने अन्तर्गत विरोधी भाव वाली विरुद्ध शक्तियों के माध्यम से विकल्पों में अहंकार की कुछ ऐसी ही वृद्धि कराती है और लीला के लिए संहरण भी उद्भावित करती है।

विरंचिः पंचत्वं व्रजति हरिराप्नोति विरतिं,
विनाशं कीनाशो भजति धनदो याति निधनम् ।
वितंद्रा माहेंद्री विततिरपि संमीलति दिशां,
महासंहारेस्मिन् विलसति सति त्वत्पतिरसौ ।। (आनन्दलहरी २६)

अपनी अहंकारावस्था के यौवन और उसकी दीप्ति में देवों ने समझ लिया कि उन्होंने प्रकृति को जीत लिया । प्रकृति के कुछ स्थूल उपादानों को आयत्त करने की दशा में प्राप्त आंशिक सफलता को उन्होंने प्रकृतिजय के रूप में ग्रहण किया, जो प्रकृतिजय, मात्र शिवानुग्रह द्वारा चैतन्य स्तर पर ही संभव है । किसी के अनुग्रह की तो उन देवों ने कल्पना भी न की थी, कारण वे शापानुग्रह शक्ति सम्पन्न अपने को ही परम सत्ता मानते थे । नियमनविहीन और उच्छृंखल कि 'स्वयं देव थे ।' किन्तु इस दशा में पहुँचने पर उन्हें अपनी अल्पायुषी अल्पसत्त्वता का भान हुआ । उनकी सुखरश्मियों पर छाये दुखजलधि के गर्जन ने उन्हें बता दिया कि अपार वैभव का उनका अहंकार सागर अब विनाश का पारावार मात्र है और वे–"भोले थे हां तिरते केवल सब विलासिता के नद में" तभी तो–"वे सब डूबे डूबा उनका विभव बन गया पारावार ।" उनके इदन्ता पर्यवसित अवसाय की परिणति बड़ी ही करुण और दीन रही । प्रकृति की शक्तियों के प्रतिरोध की क्षमता प्राकृत उपादानों से गठित देहधारी में कहां तक है यह उन्हें अब विदित हुआ । रहस्य सर्ग में यह तथ्य और भी स्पष्ट होता है जहाँ वे कहते हैं– "लौट चलो इस वातचक्र से मैं दुर्बल अब लड़ न सकूँगा ।"

श्रद्धा सर्ग में —"व्यथा से नीली लहरों बीच बिखरते सुखमणिगण द्युतिमान"— कह कर विलीन होते देवों को सुखमयूखी मणियों के रूपक में रखा गया । 'द्युतिमणि-गण" के रूप में आये देवों के संकेत का उल्लेख प्रथमखंड में भी हो चुका है । यहां उसका पूर्व संकेत देते देवों द्वारा अनुभूत सुखों अर्थात् विलास वासनामयी संस्कृति की सुखावेदना का अवसान किंवा दुखावेदना में उसकी परिणति के चित्र अंकित हुए । पहले उनके सुख विगलित होते हैं, मयूख मलिन हो लीन होते हैं तदन्तर वे सुख-मणियाँ स्वयं भी व्यथापूर्वक बिखरती और प्रलय की नीली लहरों में तिरोहित हो जाती हैं । आलोक के उन पुतलों का यह मार्मिक अवसान मनु की स्मृति और उन संस्कारों में सजीव है जो मनु की जीवावस्था के आधार हैं । उनके स्मृति पट पर देव जाति के वे अतिचार एक एक कर उभरने लगे जिनके कारण—

"वे सब डूबे डूबा उनका विभव बन गया पारावार,
उमड़ रहा था देव सुखों पर दुःख जलधि का नाद अपार ।"

प्रकृति के नियमों से अनुमोदित और सहज लब्ध सुखों से संतुष्ट न हो और की प्राप्ति के मद एवं रस-तृष्णा में ही वे आस्थावान रहे उनके प्रयत्न प्रकृति के अनुकूल

नहीं अपितु उसके प्रतिकूल चलने लगे। इसकी एक सहज अभिव्यक्ति काम के मुख से हुई है जिसमें वास्तव में देवों का सकाम भाव अपने मौलिक आधार पर—प्रतिष्ठित है—"प्यासा हूँ मैं अब भी प्यासा संतुष्ट ओघ से मैं न हुआ।" प्राणसुरभि से उन्मत्त ऐन्द्रिक विलासिता का अतिरेक उनकी सुखानुभूति का मात्र माध्यम था। देव जाति की इस विलासिता की कुछ अपनी विशेषतायें थीं जिसके द्वारा सुख का संग्रह उनमें निरंतर केन्द्रीभूत होता गया। सुरभित अंचल से चलने वाले जीवन और मधु गंधयुक्त निःश्वास और उल्लास भरे कोलाहल पूर्ण काम्य यज्ञों द्वारा उनकी प्राण-केवली संस्कृति मुखरित होती थी। इस रूप में उन्होंने समृद्धि के थोड़े से सुखसंचार से विश्व का समस्त बल वैभव और आनंद स्वायत्त समझा। प्रकृति को अपने पगतल में विनीत मानने वाले उन कीर्ति से दीप्त और शोभा से आवृत देवों से धरणी आक्रान्त रही। यहां पगतल से धरणी में कम्प होना भी अपनी रूपकात्मकता में कुछ विशिष्ट संकेत दे रहा है। अणु में भौतिकी–पार्थिव चेतना के प्रति मिथ्याहंकार का आरोप और आकर्षण होता है, यह आरोप और आकर्षण ही अणु को धरणी तत्त्व से सश्लिष्ट रखता है। अहंकृति तरंग अपने उदयास्त किंवा आरोह-अवरोह भाव में अणु का पार्थिवी चेतना से क्षीण और गाढ़ संयोग एवं आश्लेष उपस्थित करता है। पगतल के रूपक में आये अहंकार की निम्नतर वृत्ति के आघात अथवा अहंकृति तरंग के आस्फालन से स्थूल आयतन की धारिणी धरणी आक्रांत हो कम्पायमान होती है। धरणी के अभिसुप्त आत्मिक स्फुरण से भी इस अहंकृति कम्पन का संघर्ष होता है तथा च, अवचेतनावस्था में वह इसका प्रतिषेध करती सी लगती है। एवंविध अहंकाराघात से कम्पन और प्रतिकम्पन की श्रृंखला प्रवर्तित होती है। गोसाईं जी ने भी इस स्थिति को लक्ष्य कर कहा, "चलत दशानन डोलत धरणी।"

नियमन-विहीन उन देवों की संस्कृति को अनिवार्यतः आपदाओं की दृष्टि में विश्रृंखल होना पड़ा और उषा-ज्योत्स्ना भरे सुरबालाओं के वासनामय श्रृंगार एवं देवों के मिलिन्द विहार, सब प्रलय जलधि में सदैव के लिए सो गए। अपनी जाति की यह दशा देख मनु का हृदय कराह उठा।

वासनामयी देव संस्कृत के व्यवहार की अतीत स्मृतियाँ एकांकी मनु को क्षुब्ध कर रही हैं। वे सोचते हैं—चिरवसन्त में नित्य यौवन वाले उन रागारुण कलेवरों के पुलक भरे प्रेमालिंगन कहाँ विलीन हो गए? अब न तो, देव वस्त्रों से उठती मधु-गन्धमयी वाष्पकादम्बिनी से कान्तिमयी अप्सराओं के मुखचन्द्र ढंकते हैं, न विशेषरूप से अस्त किंवा व्यस्त होने वाले शून्यप्राय एव तनुतम वसन उनके भुजमूलों को अपनी बेसुध और आतुर शिथिलता में अनावृत करते हैं। सौरभ और राग भरे दिगन्त में वासना की अवेचतन गति के लिए मधुकर के अनंगसंचारी मरंदोत्सव कहां गए? उद्दाम और उन्मुक्त देवों के विहार का संकेत देवांगनाओं के कल्पवृक्ष के पराग से मंडित

कपोलों के रूपक में अंकित है। भारतीय परम्परा में कल्पवृक्ष अतिशय उदारभाव का प्रतीक है जिसके पराग से मंडित वे कपोल अवश्य ही तद्गुण विशिष्ट रहे होंगे। वासनामूलक विलास व्यवहार करने वाले वे देव अपनी अहंकार ज्वाला में जलकर प्रलय जलधि में गल गए। इस प्रकार अपनी वासना सरिता का प्रलय जलधि से संगम होते देख मनु का हृदय कराह उठा था।

विनाश की स्मृतियों और उनके कारणों के ऊहापोह में मनु चिंता करते हैं—देव संस्कृति अपने अमरत्व और अपनी श्रेष्ठता के अहंकार में अन्य सबकी अवहेलना करती थी, उसकी भोग दृष्टि की बुभुक्षित तृषा अपने सुखसन्निदेशों के क्षोभात्मक ईक्षणों की आकुल प्रतीक्षा करती थी, उनके विलास के अलंकृत आधार और उपादान उपकरण सहित नष्ट हो गए। उनके वे यज्ञ रचनामूलक नहीं ध्वंसात्मक रहे। उन यज्ञों से मिलने वाली क्षणिक सफलताओं और मात्र मांसल सुखों की परिणति इस दुखद सर्वनाश में हुई। यह प्रलय उनके पशुभाव और उस परिवेश में किए गए काम्य पशुमेधों की पूर्णाहुति जैसा उपस्थित हुआ, जिसमें अपनी महासंहार लीला में भगवती ने उस उदित पशुभाव को सहसा और सर्वथा समाप्त कर दिया। देवसंस्कृति की इस निर्मम और स्वार्थपरक विचारधारा द्वारा दलित और प्रताड़ित प्राणियों की सवेदना में किसने अधीरता और करुणापूर्वक ऐसा अश्रुपात किया जिससे यह प्रलय उपस्थित हो गया? विश्वमाता ने, आदि विद्या ने। सृष्टि का पालन विष्णुतत्त्व द्वारा होता है, इसका स्वरूप नेत्राकार कहा गया है।[1] करुणामय के नेत्र जो अपने दृष्टिपात द्वारा संसृति का पालन करते हैं—जिनमें महागौरी अपनी अपांगशक्ति ढालती शिवनेत्र द्वारा दग्धकाम को पुनरुज्जीवित करती है—वे भला कैसे बन्द रहते?[2] दिशाओं को बधिर कर देने वाले निरंतर वज्रपात और दिग्दाह होने लगे। आकाश में कम्पन होने लगा, परिणामत: देवसंस्कृति में हाहाकार और क्रन्दन मच गया। प्रलय के अन्धकार में सूर्य धुंधला पड़कर लीनप्राय हो गया। देहात्मबोधी असुरवर्ग और उनके वरणीय वरुण की ओर भी यहां मलिनमित्र के प्रयोग में श्लेषात्मक व्यग्य है।

अंधकार में मलिनमित्र की धुंधली आभा लीन हुई।
वरुण व्यस्त थे घनी कालिमा स्तर स्तर जमती पीन हुई।।

उन काम्य यज्ञों में होने वाली पाशवी हिंसा को देख जगमाता में करुणा भाव उपस्थित था। जीवमंगल के संकल्प से प्रेरित हो उस सर्वमंगला की आंखों से आँसू ढलने लगे। लज्जासर्ग में जगन्माता जब अपने अंशभाव उन्मीलित करती अपने श्रद्धानुकार में छायामूर्ति से प्रश्न करती है, वहां छायामूर्ति उत्तर देती कहती है—

---

१. दिवीवचक्षुराततं तद्विष्णो: परमं पदम्—ऋक् १-२२-२०।
२. उनको देख कौन रोया यों अन्तरिक्ष में बैठ अधीर

क्या कहती हो ठहरो नारी संकल्प अश्रु जल से अपने ।
तुम दान कर चुकीं पहले ही जीवन के सोने से सपने ।।

मातृमूर्ति का निदर्शन दर्शन सर्ग में इस प्रकार होता है—"तुम देवि आह कितनी उदार वह मातृभूमि है निर्विकार ।" संततिमंगल के संकल्प में निष्यन्दित प्रालेय आंसुओं में, देवसंस्कृतिगत कामबाला देहभाव में प्राप्त अपने स्वर्णिम विकास तो तुम पहले ही बहा चुकी हो । अपने इस सत्संकल्प से ही तुमने यह विशुद्ध श्रद्धामूर्ति अब धारण किया है "नारी तुम केवल श्रद्धा हो" । अश्रुपात में बरसने वाले प्रालेय हलाहल नीर द्वारा कुछ और संकेत भी मिलता है, प्रालेय, का अर्थ हिम है । हिम के प्रतीक में शिव की विवेचना हो चुकी है । प्रालेय, प्रलयकारी और प्रलयोद्भूत के श्लेष में भी आता है । निस्तरंग वृत्तिहीना साम्यावस्था, वृत्तिपरक आलोड़न से, जिसमें मौलिक ईक्ष्य ईक्षक भेदावस्था प्रगट होती है, प्रलयावस्था है । शक्ति के आवृत अन्तर्मुखत्व से इसमें शिवभाव पृथक विविक्त हो जाता है । शिवशरीर में जगन्माता शक्ति रूपेण स्फुरित है जो अपने शिशुओं पर अनुग्रह करती संकल्पाश्रु किंवा करुणावारि बहा रही है । शक्ति का बहिर्मुखत्व प्रलीन होने मात्र से शिवावस्था शेष रहती है जो प्रालेय किंवा हिम पदवाच्य है । जगन्माता की प्रेरणा से शिव ने जगत पर करुण दृष्टिपात करते हलाहल को कण्ठ में धारण किया था ।[1] देवाहंकृति से त्रस्त जीवों के कल्याण के लिए अब उस जगन्माता की ही इच्छा से–संकल्प से, शिवकण्ठ में रक्षित और संचित वही हलाहल उस कण्ठ से आश्लिष्ट महागौरी अपांगों के संकल्पाश्रु में घुल कर बरस उठा ।

जल द्रवगुण विशिष्ट है और द्रवत्व में बहिर्मुख प्रवाही क्रियाभाव है जिसके लीन हो जाने पर अन्तर्मुखत्व में जल घनीभूतावस्था को प्राप्त हो हिम पदवाच्य हो जाता है । प्रालेय का अर्थ हिम है अतः हिम का प्रलय से कोई निकट सम्बन्ध अवश्य है । प्रलय की परिभाषा हुई—ऐसा प्रत्यवाय जिसमें सामान्य प्रकृति की क्रियायें व्यतिक्रमित हो जांय तथा महाभूतात्मक लयपरिणामी आलोड़न उपस्थित हो । वर्तमान मानवी संसृति के पूर्व कुछ ऐसी ही असाधारण घटना हुई तथा तज्जनीन प्रत्यवाय के कारण जलसंघात उदङ्मुख हो उत्तरगिरि पर दौड़ गया और भौतिक ताप में सहसा असाधारणअसंतुलन से वह जल जो उत्तराभिमुख धावनगति ग्रहण करने से उदक पदवाच्य है, घनीभूतावस्था में पहुँचकर प्रालेय पदवाच्य हो गया । इस प्रकार हिम की उत्पत्ति का स्रोत वह प्रलय हो सकता है, जिसकी स्मृति का उल्लेख हमारे ऋषियों

१. कृतः कण्ठे हालाहलमखिल भूगोल कृपया भवत्या संगत्य फलमिति च कल्याणि कलये ।

ने अनेक सहस्राब्दियों बाद किया। हिम को प्रालेय इसलिए भी कह सकते हैं कि तत्व का स्वाभाविक गुण प्रलीन हो जाने से एक दूसरा रूप प्रगट हुआ। ऐसी स्थिति जल में ही संभव है, अन्य चार महाभूत अपने गुण परिवर्तन से द्वितीय रूप धारण नहीं कर सकते अत: हिम से जल की ओर पुनरावर्तन जैसी क्रिया का तो कोई प्रश्न ही नहीं, यह सामर्थ्य केवल जल में है। हिम का जल से व्यतिरिक्त कोई अस्तित्व भी नहीं। हमारी परम्परा में जल सृष्टि का कारणभूत होने के साथ ही शक्ति के क्रियात्मक भाव का प्रतीक भी है। विश्व की अन्य चिन्तन धारायें भी इस तथ्य के निकट पहुँची हैं, उदाहरण के लिए ग्रीक दार्शनिक थेल्स की उक्ति ली जा सकती है जो जल को आदिम और कारणभूत सत्ता मानते हैं।

पंचभूत का भैरव मिश्रण होने लगा था। आगे चलकर पंच महाभूत का तांडव-मय नृत्य वर्णित हुआ है। यह तांडव बिना भैरवभावावेश के पंचभूतों के लिए संभव न था। सृष्ट तत्त्वों में क्या सामर्थ्य जो स्वाधिकारातीत के स्फुरण दर्शित करें। अत: पहले उनका भावावेश परिणामी भैरव मिश्रण हुआ। भैरव से तात्पर्य भरण-रवण-वमनात्मक संसारवृत्त-विघटनपरक, अभयदायिनी शिव की विशिष्टावस्था से है। भी, अर्थात् भवभीति एवं तज्जनित रव यह हुआ भीरव, इस भीतिरव में क्रीड़ित अभय-प्रद स्फुरण भैरव पदवाच्य है। पंचमहाभूत, शक्ति के माहेश्वरी रूप के अधीन हैं। शम्पा की अर्थात् पालन भाव की शमनकारिणी-निरसनकारिणी अथवा अधोमुख पातन-भाव की शमनकारिणी कल्याणावस्था द्योतित करने वाली शक्ति, शम्पा में संकेतित है (शम्+पा) जिसके शकल निपात किंवा खंडश: आस्फालन उस भैरव मिश्रण की मन्थनकारिणी शक्ति के रूप में सार्थक हैं। अध:पातित जैव संस्थान का पालन विष्णुतत्त्वाधीन बताया जा चुका है। यह पंचमहाप्रेतों में एक है। विष्णु का पर्याय केशव है। के, अर्थात् चिन्महोदधि पदवाच्य ब्रह्मविल किंवा कैलास में जो शत्-भाव में अवस्थित है—वह हुआ केशव। यह अवस्था "शूलाग्रेशवकेशयं कटिसटे नारसिंह वद्: आदि के रूप में भैरवाविष्ट शिवावस्था की वर्णित रूपदशा से संवादित है। आनन्द लहरी में आए—"शिवाकारे मंचे परमशिव पर्यंक निलयां भजन्ती त्वां धन्या: कतिचन चिदानन्द लहरीम्" से भी यह पक्ष पुष्ट होता है। जहाँ ब्रह्मा, हरि, रुद्र, ईश्वर महात्रिपुरसुन्दरी के मंच पाद स्वरूप प्रतिष्ठित हैं। वज्रपाती का स्थूल रूप तो पहले वर्णित हो चुका है—

हाहाकार हुआ क्रन्दन मय कठिन कुलिश होते थे चूर,
हुए दिगन्त बधिर भीषणरव बार-बार होता था क्रूर।

शम्पाओं के शकल निपात में सूक्ष्मस्तरीण शक्ति व्यापार संकेतित है, जिसका निदर्शन संक्षेप में ऊपर किया जा चुका है। शम्पाओं के शकल निपात किंवा संहारशक्ति के

विभिन्न रूपांश अवतीर्ण हुए। अवतरण में उत्पन्न भीषण रव से पार्थिवी तत्वचेतना में कम्प होने लगे। वह भीत और त्रस्त हो सिहरने लगी। प्रतीत होता था कि आकाश पृथिवी का आलिंगन करने उतरा है। नील व्योम के रूप में व्योमकेश, धरणिरूपा हेमवती उमा का आलिंगन करने उतरा था[1]—उस व्योमकेश के रूपभाव का संकेत-फड़ियों जैसी लहरियों, दीप्त नेत्रों जैसी ज्वालामुखियों, किंवहुता नृत्यचरणधारी अपस्मार जैसी महाकच्छपी धरणी के रूप में प्रतीयमान है।

जलसंघात अर्थात् क्रिया शक्ति के स्फुरण कर्मसमुद्र का अतिभैरव रूप प्रगट हुआ। द्रवीभूत तिमिर अर्थात् रुदित तमोभाव को प्रलय पवन अपने विदारक आलिंगनों से प्रतिघातित करता रहा।

ज्ञानभाव में उपस्थित होने वाली प्रलयदशा में भी इस स्वरूप का अन्वयनों होता है, जबकि साधक शिवाद्यवनिपर्यन्त समस्त तत्त्वों की आहुति संविदग्निस्वरूपिणी स्वान्तस्थ चिति में देता है—

यत्र सर्वे लयं यान्ति दह्यन्ते तत्त्वसंचयाः इन्दुश्रमभइन्दु
तांचितिं पश्य कायस्थां कालानल समत्विषम् (मालिनीविजय)
महाशून्यालये वह्नो भूताक्षविषयादिकं
हूयते मनसा साकं स होमः सुक्व चेतना (तिमिरोद्घाट)

अन्तर्निरन्तर निबन्धन मेधमाने मायान्धकार परिपंथिनि संविदग्नौ कस्मिंश्चिद्दभुत मरीचि विकाशि भूमौविश्वं जुहोमि वसुधादि शिवावसानम्—
—(कौलावली निर्णय)

ज्ञानप्रलय में तत्त्वों का जैसे जैसे क्रमशः संहरण होता जाता है, वैसे वैसे वह सन्धि बेला निकट आती है, जिसमें साधक चेतना, शुद्ध अहंता से आप्लावित होती है, परिणामतः असीम स्वातंत्र्य में निरावरण और मर्यादाहीन हो समग्रभाव से निमज्जित हो जाती है। भंदावभासक क्षितिज क्रमशः क्षीण होता लीन हो जाता है। उदधि अर्थात् उत्क्रांत भाव जिसमें अधिष्ठित है वह चित्समुद्र, साधक की साधना सरिता को आत्मसात् कर लेता है—

बेला क्षण क्षण निकट आ रही क्षितिज क्षीण फिर लीन हुआ,
उदधि डुबा कर अखिल धरा को बस मर्यादा हीन हुआ।

इस उपलब्धि की पूर्वान्तरीण स्थिति काव्य में आगे भी यथाप्रसंग वर्णित है। जहाँन घनीभूत हो स्थिर होकर अपना बहिचार समाप्त कर देता है। चेतना की

१. अकाशं लिंगमित्याहुः धरणी चास्व पीठिका।

अधोमुखी संसारावस्था के विलयन में जड़ दृष्टि विफल हो जाती है, और महाभाव के इस विराट आलोड़न में लीन होते पार्थिव ग्रह तारादि ज्ञानप्रलय के प्रखर पावस में ज्योतिरिंगणों जैसे उड़ जाते हैं। प्रहर दिवस आदि का प्रश्न ही कहाँ, कारण काल अतिक्रांत हो जाता है।

तदा तस्मिन्महाव्योम्नि प्रलीन शशि भास्करे—(स्पन्द १-२५)

सागर संतरण के लिए नौका आवश्यक है। नौका के आवश्यक अंग हैं डांड़ एवं पतवार। उसे यज्ञिशील बनाने के लिए डांड़ और इच्छित दिशा में प्रयाण के लिए संचार को नियोजित एवं नियंत्रित करने के लिए पतवार आवश्यक है। डांड़ बिना, केवल पतवार से नौका नहीं चलती और न तो पतवार के अभाव में संचार नियमन ही संभव है। श्रद्धा और इड़ा के विनिमय समन्वय के संदर्भ में यह तथ्य सदैव ध्यातव्य है। देवगण, जैसा कि पहले विवेचित हो चुका है, संसृति को गतिशील और क्षेमयुक्त रखने वाली शक्ति श्रद्धा से हीन हो चुके थे—गति नहीं थी तभी तो कहा गया—"अरे पुरातन अमृत अगतिमय मोहमुग्ध जर्जर अवसाद", और प्रलय में उनकी बुद्धि की पतवार (इड़ा) भी अस्तव्यस्त हो चुकी थी। अस्तु, अब केवल प्राण के कुछ स्पन्दन ही बच रहे थे, जो मुमूर्षप्राय थे। किन्तु, वह प्राण कुछ साधारण नहीं देव प्राण था, बलशाली और ऊर्जस्वल। अतः अनेक दुर्दशा भोगने पर भी वह पूर्णतः म्रियमाण न हो सका अपितु उसी ने एक झटके में उतरायणीय देव-चेतना का डगमगाता संयान, कैलास पाद उत्तरगिरि से लगा दिया। मत्स्याघात के रूपक में प्राण है। मत्स्य जलप्रवाह के विपरीत दिशा में भी चल सकता है, उसी प्रकार प्राण सांसारिक संचरण के विपरीत और ऊर्ध्वगमन परिणामी अन्तर्मुखचार कर सकता है, यदि सद्गुरु का अनुग्रह प्राप्त हो जाय (उलटा पवन चढ़ै जस मीना है सद्गुरु का मारग झीना)। यहां अनुग्रह की झलक मनु को देवसंस्कृति के सर्वनाश द्वारा मिलती है (यस्यानुग्रह-मिच्छामि तस्य सर्वं हराम्यहम्)। मत्स्याघात के रूप में अनुग्रह द्वारा प्राण केन्द्र मन, मनु के रूप में उत्तराभिमुख हो जल प्रवाह की संसरणावस्था की विपरीत दिशा में हिमगिरि-विश्वमूर्धा-शिवकूट से जा लगता है जहां परिणमित हो उसे स्थित प्राप्त करनी है।

जिस देवाहंकार के आयतन अर्थात् नौका को ले मनु अर्थात् मन ने यह संयान किया वह आयतन उत्तरगिरि से टकरा कर क्षतविक्षत हो गया। अहंकार का देवकाष्ठ (शरीर) चैतन्य के शिलाभाव से टकरा कर कैसे अक्षुण्ण रह जाता—"महामत्स्य का एक चपेटा दीन पोत का मरण रहा।"

देवसृष्टि के ध्वंस अर्थात् भग्नमन मनु उत्तरगिरि पर पुनः सांस लेते कहते हैं—"आज अमरता का जीवित हूँ मैं वह भीषण जर्जर दम्भ।"

मनु को विगत संस्कृति के व्यवहार से पूरी वितृष्णा हो गई है। उस देहात्मबोध से वे उपरमित हो गए तथा उसकी विफलता में उन्हें यह श्मशान-वैराग्य उत्पन्न हुआ। श्मशान-वैराग्य इसलिए कि आगे चलकर उन सभी सुप्त और प्रसुप्त संस्कारों का पुनर्जागरण हुआ जिनके प्रति अभी यह क्षण विरक्ति उदित है। कायरता के अलस विषाद में आये कायरता शब्द से देहात्मबोध की भावना श्लेषात्मक रीति से संकेतित है। यहां काया में रतावस्था का द्योतन होता है जो वास्तव में कायर भाव है वीरभाव नहीं, पारतंत्र्य की एक दशा है स्वातंत्र्य की नहीं। इसमें गति नहीं जड़ता और प्रमाद है। घोरावस्था की अति किंवा काया में रत रहने का यह जीर्ण और पुरातन भाव नित्यनवीना प्रकृति को सहनीय नहीं (पुरातनता का यह निर्मोक सहन करती न प्रकृति पल एक—श्रद्धा सर्ग)। अतएव सत्य का जो श्रेय और प्रेय स्वरूप देवों ने स्थिर किया था अब वह मूल्यहीन हो गया और अमरत्व के विपरीत मौन, नाश, विध्वंस, अंधेरा, शून्य और अभाव के रूप में उस सत्य का अवमूल्यन हो गया।

अचल हिमानी के उस दीर्घ अंचल को मनु के देवाहंकार ने मृत्यु के अंक सदृश देखा, यह उन्हें कालजलधि के हलचल वाली लहर अनन्त में बनाती भासमान हुई। अनन्त भट्टारक रूप से माया में ईश्वर के ईक्षण द्वारा, कला से पृथ्वी पर्यन्त तत्त्व उद्भासित होते हैं। यह मायिक क्षेत्र काल राज्य है जो काल जलधि के रूप में वर्णित हुआ है। मृत्यु का यह क्रीड़ाक्षेत्र है जहां वह (मृत्यु) जीव के दैहिक उत्पत्ति और संहार के खेल खेलती है। काल जलधि की हलचल वाली लहर अपनी क्षण-भंगुरता में मृत्युराज्य की विशेषता बनी है। गुरु राज्य-चैतन्य क्षेत्र की लहर अचल है। लहर से स्पन्दन अभिप्रेत है जो सर्वभाव में विद्यमान है, विशेषता अवस्था की है। चैतन्य समुद्र की अवस्था आदि मध्यान्त हीन और अचल है—वृत्तिहीन है दृष्टि विशेष में वह स्वयं समग्रभाव में लहरवत् भासमान होता है किन्तु अपनी वृत्तिहीनता के कारण अचल ही रहता है, तथा च, कालराज्य किंवा मृत्यु-क्षेत्र वृत्तिसंकुल, साद्यंत औरसोपपि है। कर्म सर्ग में, चैतन्यक्षेत्र की सस्पन्दावस्था को देखते कहा गया है—

"अचल अनन्त नील लहरों पर बैठे आसन मारे,
देव कौन तुम झरते तन से मन कन से ये तारे।

चैतन्य में सर्वभाव अंकस्थ रहने से उसका दर्शन किसी भी रूप में किया जा सकता है।

मृत्यु को भूतभावन के महानृत्य के विषम सम की उपाधि दी गई है। सृष्टि का मूल वैषम्य है और सृष्टि का परिणाम संहार या मृत्यु अत: मृत्यु के मूल में भी वैषम्य ही कारणभूत हुआ। काल की कलनात्मकता प्राणिकस्पंदनों को परिमित और खंडित करती है। मृत्यु की ऐश्वर्यभूमि सृष्टि ही है। कालराज्य के परिधिपर्यन्त मृत्यु का लोक और व्यापार सीमित है। सृष्टि अभिशाप के रूप में मृत्यु की विभूति बनती है

और मृत्यु की विभूति सृष्टि सदैव धारण किए रहती है। मृत्यु, कालराज्य की अपनी परिधि में चिरंतन सत्य और नित्य रहस्य है।

चैतन्य और जड़ क्षेत्रों की आख्या क्रमशः गुरुराज्य किंवा शुद्धाध्व और कालराज्य अशुद्धाध्व है। इन दोनों की सन्धि में उदित होने वाली अवस्था बिन्दुरूपा महामाया की है। शिव की अंहता बोधावस्था में इदंता का सज्ञान स्फुरण महामाया वृत्ति है। अणुदशापन्नता में चैतन्य से निःसृत है स्फुलिंग इस दर्शना से अवरोहण कर कर्म और संस्कारों के पल्लवन और परिपाक के लिए कालराज्य में आ गिरते हैं। यह काल राज्य अनन्त चैतन्य के भीतर महासमुद्र के तट पर पड़ी सैकत राशि में एक सिकता कण तुल्य पड़ा है। जीवन और मृत्यु इस कालराज्य के ही व्यापार हैं। इसी लिए कालराज्य अर्थात् मृत्युलोक की नियामिका शक्ति को सम्बोधित करते कहा गया—

"जीवन तेरा क्षुद्र अंश है व्यक्त नील घनमाला में,
सौदामिनी सन्धि सा सुन्दर क्षण भर रहा उजाला में।"

नील घकमाला से तात्पर्य तमस्कृत और रूप बदलती कालकलमा से है जो अपनी अपार वाष्प राशि से जीवनीहार कणों को रूप देती है और जो अपने विषम संघट्ट में अणुओं का जीवन क्षण भर के लिए बिजली की तरह चमकदार लौन कर देती है। यहां चैतन्य के महाप्रकाश भाव में उन्मीलित मायिकस्तर की रेखा पर अवतरित होने वाले अणु की उस रेखा से क्षण सन्धि का भी तात्पर्य है जिस क्षण सन्धि में ही जड़ दृष्टि सृष्ट विश्व का अनन्तत्व और अनादित्व देखती है। अक्षरमहा-क्षण में कलनात्मक काल के अस्तित्व किंवा उस खंड क्षण का भी यहां संकेत है जो तुटि से कल्प महाकल्प तक को अपने में धारण किए है।

शक्ति, प्रलय द्वारा काली स्वरूप से भूतग्रामों का कवलन करती है—"विश्वं महा-कल्प विराम कल्प, भवान्तभीमभृकुटी भ्रमन्त्या, याश्नत्यनन्तप्रभवार्चिषातां, नमामि भद्रां शुभ भद्रकालीम् : क्रमस्तोत्रः, एवं सर्ग के आदि में वह कारण वारिराशि : या ससर्ज विधातारम् सर्गादौ वारिपूरितम्—(ललितोपाख्यान) (अंभस्यपारे) उन कवलित भूतग्रामों किंवा विश्वबीज का शक्ति वामा रूप से वमन करती है (वामा विश्वस्यवमनात्)। शक्ति, परमव्योम को अपने में धारण किए है। नई सृष्टि के मूलभूत स्फुरण का उल्लेख करते कहा गया है—"परमव्योम से भौतिक कण सी घने कुहासों की थी वृष्टि" अणुओं के विकर्षित और निर्जीव विद्युत्कण अचेतन अवस्था में संस्कारों का भार लिए डोलते निर्जनता भंग कर रहे थे। कहा है—"आकर्षणविहीन विद्युत्कण बने भार-वाही थे भृत्यु।" अस्तित्व की संभावना के पूर्वान्तिर में यह विषम तांडव इस भौतिक देशकालात्मक प्रलय का स्रोत बना था। देवों के आर्त्तनाद की दीन प्रतिध्वनि हिम-शिलाओं से टकरा रही थी और उस प्रतिध्वनि के शब्द को पवन पिये जा रहा था।

एवं विध यज्ञों में हुत निरीह पशुओं के संकलित आर्त्तनाद की प्रतिध्वनि से सजातीयता स्थापित करती उन देवों के आर्त्तनाद की प्रतिध्वनि भी निष्फल हो रही थी। पवन ने पशुओं और पशुभाव की घोरावस्था में रहने वाले आमिष लोलुप एवं मांसल काक्षांओं वाले देवों के आर्त्तनाद की दीन प्रतिध्वनियों को समानभाव से पिया। पादन यित्री शक्ति के स्फुरण की अवस्था में वायु पवन पदवाच्य है। प्रस्तुत प्रसंग में शब्दों को पीने के रूपक में हिंसा के कलुष को पवन निरसित कर रहा है। इस प्रकार प्रलय के माध्यम से प्रकृति ने सृष्टि में उत्पन्न गुणवैषम्य को तत्व वैषम्य की उपस्थित में प्रहीण किया। आक्रांत और अतिचारी वे हुत पशु और नष्टप्राय देव समान स्थिति में पहुँच गए। यहां प्रकृति की गुणसाम्योन्मुखी प्रतिक्रिया वृत्ति स्फुरित रही। नवसर्गोन्मेष की संभावना में, सौरचक्र में उपस्थित आवर्तन द्वारा प्रवर्तित सूर्य की सृष्टि-मंगल-कारिणी रश्मियों के ताप से प्रलय जल का देह भीषण संघात भाप बन उड़ा जा रहा था—मानव की रंगभूमि प्रस्तुत हो रही थी–"उत्तर चला था वह जल प्लावन और निकलने लगी मही।"

समीक्षा

डा० नगेन्द्र ने अपने समीक्षाग्रन्थ कामायनी के अध्ययन और अध्यापन की समस्यायें प्रस्तुत कर इस विश्वकाव्य के मूलभूत तथ्यों को समझने और समझाने का सही दिशा में प्रयास किया है। कवि के जीवनकाल में आलोच्यग्रन्थ के मुद्रण और प्रकाशन से सम्बन्धित तथ्यों का आकलन यथावत् न रहने से मान्य विद्वान को विषय के सही विवेचन में कठिनाई हुई। अधिक संभावना तो इस बात की प्रतीत होती है कि एतत्संबन्धी तथ्य उन्हें कवि के व्यक्तित्व के निकट रहने का दम भरने वाले किसी प्रमादी महानुभाव ने दिये, बिना ऐसा अनुमान किये कि सही तथ्य के अनेक प्रमाण अधुनापि वर्तमान हैं। अतः ऐसी भ्रान्त सूचना पर उन्हें यह धारणा बनानी पड़ी कि शैय्याग्रस्त होने से प्रथम मुद्रणकाल में आलोच्यग्रन्थ का शोध संस्कार (प्रूफ रीडिंग) कवि द्वारा नहीं हो सका। इस भ्रम का निवारण प्रसाद मंदिर में रक्षित अभिलेखों के देखने से सहज ही हो जाता है। कवि के हाथों देखी पुरानी प्रूफ कापियाँ एवं भारती भण्डार के व्यवस्थापक श्री वाचस्पति पाठक के कतिपय पत्र स्थिति को स्पष्ट करते हैं। उन प्रूफ कापियों में कवि के हाथों लिखे मुद्रणादेश आदि देखने से विदित होता है कि कवि ने एक नहीं अनेक प्रूफ देखे थे। सर्वोपरि अन्तिम प्रूफ कापियों की जिल्द अपनी रुग्णावस्था में उन्होंने आचार्य श्री कृष्णनन्द को बड़े स्नेह से दी थी जो अद्यापि आचार्यवर के पास सावधानी से रक्षित है। इन सभी सामग्रियों को देख चिन्हों आदि के सम्बन्ध में कविदृष्टि सरलता पूर्वक प्राप्य है। विराम, अर्द्धविराम और स्थानादि संबन्धी उनके निर्देश इन अभिलेखों में रक्षित हैं। कामायनी के प्रथम संस्करण को कवि के निर्देशों के अनुरूप व्यक्तिगत रूप से समझ-समझ कर बनाने में श्री पाठक जी ने अथक परिश्रम किया और वे सफल भी हुए। उन्होंने कवि से ग्रन्थ में व्यवहृत होने वाले टाइप के प्रकार तक का निर्देश प्राप्त किया अतएव काव्य को हमें उसी रूप में ग्रहण करना होगा जिसमें वह पहले उपस्थित हुआ। यदि हमें कहीं अर्थ की दूरान्विति आदि की असुविधायें होती हैं तो हम वस्तु की आलोचना मात्र कर सकते हैं, परिवर्तन नहीं। हमें आशा करनी चाहिये कि मान्य विद्वान यथावसर इसका निराकरण कर लेंगे।

कामायनी के महाकाव्यत्व के संबन्ध में डा० नगेन्द्र के विचार स्वतन्त्र और निरपेक्ष चिंतन के आधार पर हैं। चिंतन की युक्ति और स्थापना के प्रमाण में पाश्चात्य काव्यशास्त्र उनका सहायक है। वे कहते हैं "स्वदेश विदेश के काव्य शास्त्र में निर्दिष्ट महाकाव्य के लक्षणों की गणना प्रस्तुत सन्दर्भ में कदाचित अधिक सार्थक न होगी"। महाकाव्य के काव्यशास्त्रीय लक्षण प्रस्तुत संदर्भ में सार्थक है या नहीं इसकी विवेचना न कर यदि केवल यही मान कर चला जाय कि वे सार्थक नहीं हैं तो ऐसा क्यों ? वह इसलिए कि समूचे विश्व में अब तक जितने भी महाकाव्य उदित हुये उन सबके आधार और आलंबन, प्रस्थानबिन्दु और गनतव्य स्थूल और मांसल उपादानों से गठित रहे। वे मानव, महामानव और अतिमानव के चरितों को लेकर आये। मानव के जनक और मानवता के प्रजनन, जीव के अवतरण और उसकी बद्ध दशा का निस्तार परिणामतः अखण्ड चैतन्य की उपलब्धि को लेकर केवल कामायनी का ही उन्मेष हुआ। अतः मानव-चरित वाले महाकाव्यों के लक्षणों का कंचुक उसकी काया पर कैसे पहनाया जा सकता है। परिमित मानदंड से महासीम को मापने के उपक्रम जैसा ही यह उपहासास्पद होगा। लक्षण और नियम आवश्यकता के अनुरूप बनते हैं। हमारे शास्त्रकारों ने संभावित प्रगति के लिये कोई अवरोध नहीं रखा है। सिद्धांत-दृष्टि स्थिर रखते हुए आवश्यकताओं के परिवेश के अनुरूप उन शास्त्रकारों ने अपनी संतति को ज्ञानप्रसार और उपलब्धियों और प्रयोगों के लिए पर्याप्त छूट दे रखी है। डा० नगेन्द्र का यह कहना कि—"स्वदेश विदेश के काव्यशास्त्र में निर्दिष्ट महाकाव्य के लक्षणों की गणना प्रस्तुत संदर्भ में कदाचित अधिक सार्थक न होगी बिल्कुल सही है और इसीलिए वे आगे कहते हैं—"इसीलिए मैं महाकाव्य के उन्हीं मूल तत्वों को लेकर चलूंगा जो देश-काल सापेक्ष नहीं हैं, जिनके अभाव में किसी भी देश अथवा युग की कोई रचना महाकाव्य नहीं बन सकती और जिनके सद्भाव में परंपरागत शास्त्रीय लक्षणों की बाधा होने पर भी किसी कृति को महाकाव्य के गौरव से वंचित नहीं किया जा सकता। देश-काल निरपेक्ष मूल तत्वों की बात कह कर माननीय विद्वान एक ऐसी स्थापना की ओर इंगित कर रहे हैं जिधर आज तक कामायनी के किसी भी विद्वान की दृष्टि नहीं गई। मनस्तत्व अपनी उद्भावना से देश का निर्माण करता है और देश के अवच्छेद में काल के जाल बुनता अतीत और अनागत की कड़ियों से वर्तमान को जोड़ता है। अतः देश और काल व्याप्त हैं और व्यापक है मनस्तत्व। आलंबन की अपेक्षता व्याप्त की है व्यापक की नहीं। देश-काल बाधित एवं उनकी अपेक्षा करने वाले चरितों से गठित महाकाव्यों के लिए निर्मित लक्षणों की उपस्थिति वहां कहां ? वहां हमें केवल महानता की अनुभूति होती है। आत्म सक्रान्ति के ग्रहणकाल में भूमा की छाया प्रतीत होती है। एकमात्रता का उदय होता है जिसकी मात्रा का आधेय देश-काल सापेक्ष वस्तु नहीं हो सकती और न तो देश-

काल सापेक्षता के मानदंड से—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है—उसकी माप ही हो सकती है। ऐसी मात्रता की अभिव्यक्ति के लिए विद्वान मनीषी को आंग्ल विद्वान ब्रेडले का शोधवाक्य मिला कुछ आकस्मिक नहीं। समष्टि मन की प्रगतिशील चिंतन-धारा का, तत्वविचारणा का यह परिणाम है जिसके लिए पूर्व और पश्चिम का भेद नहीं। चिन्मात्रता की दृष्टि से विचार करने वाली भारतीय परम्पपा से यह पक्ष और भी अधिक पुष्ट होता है। ब्राह्मण के गुण, धर्म और परंपरा के अतिरिक्त अश्रौत बौद्ध परम्परा में भी बताये गये जिन्हें देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि वे ब्राह्मण गुण, धर्म नहीं इससे यह उपपत्ति आती है कि ब्राह्मण महान् है जिसका उपलक्षण विरोधी दृष्टियों द्वारा भी होता है। वही महत्ता की सिद्धि में लक्षण सीमा की बाधा नहीं। इसी प्रकार कामायनी में महता देखने के लिये लक्षणों के अनुरोध बाधक नही। श्री ब्रेडले और डा० नगेन्द्र के अनुसार उदात्त लक्षणों के आधार पर कामायनी की महत्ता की सिद्धि अन्य दृष्टियों से उपस्थित सिद्धि के लिए न तो बधक है न असफल।

रस के विषय में अनेक दृष्टियां हैं। किसी ने शृंगार और किसी ने शांत को प्रमुख माना किन्तु आचार्य भवभूति ने करुण रस को ही मात्र रस माना अन्य को उसके भेद या अंग। यहां ध्यातव्य है कि आचार्य भवभूति तथागत के करुणावाद के उत्कर्ष-काल में रहे; उस काल का परिवेश करुणा से स्पंदित रहा। निश्चय ही इसका ब्राह्य प्रभाव उन पर पड़ा। आर्ष परंपरा का वाक्य है—रसोवै सः अथांत् वह अद्वय सत्ता ही रस है। इस अन्तर्धारा के प्रभाव में उन्होंने रस को अद्वय किंवा एक माना और बाह्य परिवेश में उसकी अभिव्यक्ति एवं व्याहृति करुण में देखी। रसो वै सः की दृष्टि से हम रस को आयतन विशेष में नही बांध सकते क्योंकि अपरिच्छिन्न है अतः खंड आयतन में सम्पूर्ण रूप से उसका अधान संभव नहीं। जिस प्रकार काव्य की महत्ता देखने के लिए हमें लक्षण विशेष बांधने पड़ रहे हैं उसी प्रकार उसकी रसवता का भी स्वतंत्र आयाम ढूंढ़ना होगा। वह आयाम अद्वय और सलरस में मिलेगा जिसमें सब रस युगपत् उपस्थित हैं। यह हमारी आपेक्षिक दृष्टि और शक्ति पर निर्भर है कि हम काव्य में उस रस का कब, कहां कैसे और कौन सा स्फुरण देखते हैं। कवि द्वारा लिखित निबन्ध' 'रस" में कहा गया है—"यह शान्त रस निस्तरंग महोदधि-कल्प समरसता ही है"। इसी समरसत वाले समरस को डा० नगेन्द्र कवि की परिभाषा के अनुरूप शान्त रस की आख्या देते हैं अर्थात् सामरस्य-समरसता ही माननीय विद्वान के शब्दों में कामायनी का अंगीरस है।

कामायनी के रूपकतत्व की पुष्टि डा० नगेन्द्र ने अपनी पांडित्यपूर्ण और सुलझी हुई शैली से की है। प्रसंगवश आचार्य शुक्ल द्वारा संकेतित असंगतियों पर भी विचार किया है जिस पर और भी विचार करने से विदित होता है कि दिवंगत आचार्य के सम्मुख कामायनी के मूल तत्व स्पष्ट नहीं हो पाये थे और उसके विश्लेषण अध्येताओं

को अभी भी भ्रान्त कर रहे हैं।

कामायनी के रूपक तत्व पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल द्वारा दो असंगतियों का उल्लेख किया गया है। आश्चर्य है कि उल्लिखित एवं तथाकथित असंगतियों को तात्विक भी कहा जाता है। प्रथम असंगति शुक्ल जी ने यह बताई—"जब इड़ा की प्रेरणा से ही मनु कर्मविस्तार करते हैं अर्थात् जब बुद्धि ही कर्मव्यापार का क़ारण है तो ज्ञानलोक से पृथक् कर्मलोक का अस्तित्व किस प्रकार संभव हो सकता हैं।" यहां यह देखना आवश्यक होगा कि मूलतः कर्म विस्तार मनु ने श्रद्धा की प्रेरणा से किया न कि हड़ा की। प्रलय के अनन्तर अवसन्न और निष्क्रिय मनु को कर्म प्रेरणा श्रद्धा से मिलती है—

एक तुम यह विस्तृत भूखंड प्रकृति वैभव से भरा अमन्द
कर्म का भोग भोग का कर्म यही जड़ का चेतन आनन्द : श्रद्धा सर्ग

शुक्ल जी की दूसरी आपत्ति मह है कि "रति और काम की दुहिता तथा मानव करुणा, सहानुभूति आदि की समानार्थी होने के कारण श्रद्धा की स्थिति शुद्ध भाव की स्थिति है उसका अस्तित्व एकान्त भावात्मक है। ऐसी परिस्थिति में उसकी स्थिति भूलोक से ही नहीं वरन् भाव, कर्म, ज्ञान तीनों से परे कैसे हो सकती है? श्रद्धा शक्ति की चित्प्रधान धारा की भावमयी स्थिति है। कौल दृष्टि से शक्ति विश्वात्मिका है और तांत्रिक दृष्टि से वह विश्वोत्तीर्ण है—

विश्यात्मिकां तदुत्तीर्णां प्रकाशामर्श रूपिणीम्
परापरमयीं देवी मात्मत्वेन विशाम्यहम् (सच्चिदानंद वासना)

किन्तु त्रिक् दृष्टि में शक्ति विश्वात्मिका और विश्वौत्तीर्ण उभयतः स्फुरित है। विश्वात्मिकां तदुत्तीर्णो हृदयं परमेशितुः– (वामकेश्वर तंत्र)। अतः भाव (इच्छा) कर्म (क्रिया) और ज्ञान के संघट्ट किंवा विश्व से संश्लिष्ट रह कर भी पद्मपत्रमिबांभसा वह शक्ति उससे उत्तीर्ण है। वह अपनी ही भित्ति पर इच्छा, ज्ञान और क्रियामय विश्व का उन्मीलन और निमीलन करती है। (स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्नीलयति–शक्ति सूत्र)

ग्रन्थ के अन्त में मान्य विद्वान ने कामायनी की दार्शनिक पृष्ठ-भूमि की—उसके आनन्दवाद की तथा दर्शन के अन्य उसमें प्राप्त प्रस्थानबिंबों की विशिप्ट विवेचना भी की है। यहां आलोच्य ग्रन्थ का दार्शनिक विवेचना अनुगम विधि द्वारा–जिसमें कागद-लेखी की अपेक्षा आंखिन देखी अधिक विश्वसनीय है एवं जिसके अनुसार काव्य का दर्शन शास्त्र के दर्शन से भिन्न माना गया है–हुआ है। यद्यपि यह दार्शनिक प्रस्थापना पश्चिमी दर्शन प्रस्थानों के अधिक निकट है फिर भी अभीष्ट साधन में लेखक को पर्याप्त सहायता मिली है। यह दूसरी बात हैकि तथ्य स्पर्श और पक्ष की पुष्टि के

लिए भारतीय परंपरा का आश्रय अधिक सुविधाजनक होता। किन्तु यह विवेचना एक निश्चित दिशा का संकेत करती अपने में महत्वपूर्ण है। दर्शन के दृबिन्दु में पूर्व पश्चिम का भेद उचित भी नहीं। अध्येताओं के मार्गदर्शन की डा० नगेन्द्र के समीक्षा ग्रन्थ में अपूर्व क्षमता है। आशा है इस ग्रन्थ से शोधकर्त्ताओं को विपुल लाभ और उचित दिशा प्राप्त होगी।

—हरिशंकर तिवारी

——꧁——

जवानों के हाथ मजबूत करने के लिए

और

देश के सर्वांगीण विकास के लिए

अपना योगदान कीजिए

अधिक से अधिक बचाइए

तथा

अपनी बचत

१— १२ वर्षीय राष्ट्रीय सुरक्षा प्रमाण पत्र।

२— १० वर्षीय सुरक्षा डिपाजिट प्रमाण पत्र।

३— १५ वर्षीय वार्षिकी पत्र।

४— बढ़ने वाली सर्वाधिक योजना।

एवं

५— डाकघर बचत बैंक

इन राष्ट्रीय योजनाओं में लगाइए।

इस प्रकार

आयकर रहित ब्याज प्राप्त करने के साथ

देश को मजबूत बनाइए

विशेष जानकारी के लिए

अपने जिला संगठनकर्ता राष्ट्रीय बचत

से

सम्पर्क स्थापित करें।

चिरप्रतीक्षित

नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी के कुछ नवीन प्रकाशन

हिन्दी सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका लेखक—श्री डा०रामनरेश वर्मा

हिंदी सगुण काव्य काल हिंदी साहित्य का स्वर्णयुग माना जाता है। इस ग्रंथ में सगुण काव्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमिका बड़े ही पांडित्यपूर्ण ढंग से तटस्थ जिज्ञासा के साथ औचित्य-पूर्ण शोध एवं संयोजन किया गया है। सगुण काव्य में आंतरिक पैठ के लिये प्रस्तुत पुस्तक अत्यंत उपादेय है। मूल्य ११)

भारतेंदु नाट्यरूपक लेखक—श्री डा० भानुशंकर मेहता

भारतेंदु शताब्दी पर अभिनीत नाट्यकला की दृष्टि से यह ग्रंथ हिंदी में एक नूतन प्रयोग है। इस प्रयोग में अनेक नए नाट्य शिल्पों का विनियोग किया गया है। इसमें भारतेंदु के जीवन की ऐसी झांकी दिखाने की चेष्टा की गई है जिसके द्वारा नाटककार की कला प्रेरणाओं और साहित्यमाध्यम से दिए गए संदेशों का अच्छा आभास मिल जाता है। मूल्य ३)

रस रतन सम्पादक—श्री डा० शिवप्रसाद सिंह

यह ग्रंथ 'पुहकर' कवि द्वारा कल्पित कथा के आधार पर रचित प्रबन्ध काव्य का सुसंपादित संस्करण है। यह वही प्रसिद्ध ग्रंथ है जिस पर प्रसन्न होकर बादशाह जहाँगीर ने इसके रचयिता कवि को बंदीगृह से मुक्त कर दिया था। मूल्य १०)

गंगालहरी संपादक—श्री पं० सुधाकर पाण्डेय

पद्माकर कृत यह पुस्तक कई विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में निर्धारित है। प्रस्तुत पुस्तक में [illegible] पर टिप्पणी, अलंकार, विवेचन पांडि[illegible] भूमिका देकर इसे छात्रों के लिये स[illegible] बना दिया गया है।

हिन्दी विश्वकोष

इस कोष का भाग १ औ[illegible] और इसका तीसरा भाग इसी मा[illegible]

मूल्य—साधारण प्रति[illegible]

हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती,
स्वयंप्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती ।
अमर्त्य-वीर-पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पंथ है—बढ़े चलो बढ़े चलो ।

—"प्रसाद"

ये पंक्तियां हमें

प्रेरणा देती हैं

भारत की पुण्य ... कारियों को मार भगाने की

आज आवश्यक...

अधिकाधिक शस्त्रास्त्र की, सामरिक स...

उसके लिये

धन की

अतएव

उत्पादन

तथा

अप... ...ंभव धन बचाइए

और

सम्पर्क स... ...चत का धन

...जनाओं में लगाइए

सूचना विभाग उत्तर प्रदे...तर प्रदेश द्वारा प्रसारित